भक्ति-योग

स्वाभाविक भक्त अपने लिये कभी कोई इच्छा अथवा कार्य नहीं करता। प्रभु ! लोग तुम्हारे नाम पर बड़े-बड़े मन्दिरों की स्थापना करते हैं, तुम्हारे नाम पर कितना ही दान कर डालते हैं। मैं दरिद्र हूँ, अकिञ्चन हूँ, मैं अपने ही शरीर को आपके पाद-पद्मों में समर्पित करता हूँ। हे प्रभु! मुझे त्याग न देना।

स्वामी विवेकानन्द

"इन्दु" स्मृति-माला का ग्यारहवाँ पुष्प

भक्ति-योग

(विवेकानन्द-ग्रन्थावली संख्या ४)

लेखक

स्वामी विवेकानन्द

अनुवादक-द्वय

पं० रूपनारायण पाण्डेय सम्पादक 'माधुरी'

श्री आदित्य शर्मा एम० ए० एल० एल० बी०

प्रकाशक

सरस्वती पुस्तक-भण्डार

आर्यनगर, लखनऊ.

प्रथमावृत्ति 2000 } मार्च सन् १९३८ ई० { मूल्य ।||)

विषय-सूची

भक्ति-योग

भक्ति-योग

स्वामी विवेकानन्द

भक्ति-योग

भक्ति के लक्षण

निष्कपट रूप से ईश्वरानुसन्धान ही भक्ति-योग है। प्रेम ही इसका आदि, मध्य और अवसान है। भगवद्-भक्ति में एक मुहूर्त्त उन्मत्त रहना शाश्वत मुक्तिप्रद होता है। नारद अपने भक्तिसूत्र में कहते हैं कि "भगवान का परम प्रेम ही भक्ति है। जीव इसका लाभ करके समस्त प्राणियों के प्रति प्रेम-वान् और घृणा शून्य होजाता है एवं अनन्त काल पर्यन्त तुष्टिलाभ करता है। इस प्रेम के द्वारा कोई काम्य सांसारिक वस्तु की प्राप्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि विषय वासना रहते हुये इस प्रेम का उदय ही नहीं होता है। भक्ति कर्म, ज्ञान, और योग से भी श्रेष्ठतर है। क्योंकि साध्य विशेष ही उनका लक्ष्य है, किन्तु "भक्ति स्वयं साध्य एवं साधन रूप है।" *

---

* ॐ सा कस्मैं परमप्रेमरूपा।

(नारद सूत्र—१ म अनुवाक—२ सूत्र)

हमारे देश के समस्त महापुरुषों ने भक्ति का सतत मुख्य रूप से विवेचन किया है। शाण्डिल्य नारदादि भक्ति तत्व के मुख्य व्याख्यातागणों के अतिरिक्त ज्ञान मार्ग समर्थक व्याससूत्र (वेदान्त) भाष्यकार महा पण्डितगणों ने भी भक्ति के सम्बन्ध में अनेक स्पष्ट संकेत किये हैं। समस्त सूत्रों का नहीं तो अधिकांश सूत्रों का भाष्यकारों का शुष्क ज्ञान परक अर्थ करने का आग्रह होने पर भी सूत्रों और विशेषतः उपासना विषयक सूत्रों के अर्थ का निरपक्ष भाव से अनुसन्धान करने पर सहज ही उनकी यथेच्छा व्याख्या करने की शक्ति चल नहीं सकती है। (अर्थात् हठात् भक्ति पदक सूत्रों का अर्थ क्लिष्ट कल्पना के आधार पर ज्ञान परक नहीं किया जा सकता है।)

वस्तुतः ज्ञान और भक्ति में इतना भेद नहीं है, जैसी कि प्रायः लोगों की कल्पना है। आगे हमको प्रतीत हो जायगा कि ज्ञान और भक्ति दोनों अन्त में किस प्रकार एक ही लक्ष्य की ओर समन्वित रूप में पर्यवसित होते हैं। राजयोग का लक्ष्य भी वही है। अन्यवस्थितजनों को धोखा देने का उद्देश्य न हो (जैसा

ॐ सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात्।

(नारद सूत्र—२ अनुवाक—१ सूत्र)

ॐ सा तु कर्मज्ञान योगेभ्योहप्यधिकतरा।

(नारद सूत्र—४ अनुवाक—२५ सूत्र)

ॐ स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः।

(नारद सूत्र—४ अनुवाक—३० सूत्र)

कि दुर्भाग्य से ठगों और ऐन्द्रजालिकों के द्वारा इसका प्रयोग होता है) किन्तु मुक्ति लाभ का एक साधनमात्र समझ कर इसका अनुष्ठान किया जाय तो यह भी उसी एक लक्ष्य को प्राप्त करा देता है।

भक्ति की एक बड़ी विशेषता यह है कि वह हमारे परम लक्ष्य ईश्वर-प्राप्ति के निमित्त अत्यन्त सहज और स्वाभाविक मार्ग है ; किन्तु इसकी बड़ी असुविधा यह है कि अपने निम्न तलों में प्रायः यह भयानक कट्टरता का स्वरूप धारण कर लेती है। हिन्दू, मुसलमान अथवा ईसाइयों का कट्टर दल इस निम्नस्तलवर्ती साधकों में से ही प्रायः अनेक समयों में प्राप्त किया जाता रहा है। जिस इष्ट निष्ठा के बिना स्वाभाविक प्रेम का होना ही असम्भव है, वही अनेक अवसरों पर परमत के प्रति तीव्र आक्रमण और दोषारोपण का कारण होती है। प्रत्येक धर्म अथवा देश में दुर्बल और अविकासित मस्तिष्क वालों के लिये अपने आदर्श के प्रति भक्ति प्रदर्शन करने का एक ही साधन होता है अर्थात् अन्य समस्त आदर्शों को घृणा की दृष्टि से देखना।

यही कारण है कि अपने ईश्वर तथा धर्म के आदर्शों में अनुरक्त व्यक्ति किसी दूसरे आदर्शों को देखते या सुनते ही कट्टर विरोध करने लगते हैं। यह प्रेम अथवा भक्ति वैसी ही है, जैसी कि एक कुत्ते में अपने मालिक की सम्पत्ति पर हस्तक्षेप निवारण करने की होती है। हाँ—अन्तर इतना अवश्य है कि कुत्ते की यह सहज प्रवृति मनुष्य की बुद्धि से श्रेष्ठतर है ; क्योंकि कुत्ते को

अपने मालिक का भ्रम कभी नहीं होता, चाहे वह अपने शत्रु का ही भेष धारण करके कुत्ते के सामने आवे। पर कट्टर-पन्थियों की विचार शक्ति का सर्वनाश हो जाता है। इनकी दृष्टि सदैव ही व्यक्तिगत विषयों पर इतनी अधिक लगी रहती है कि दूसरा क्या कहता है, वह सत्य है अथवा असत्य इत्यादि बातों से इन्हें कोई प्रयोजन नहीं; किन्तु कहने वाले ही पर उनकी विशेष दृष्टि रहती है। यह लोग अपने सम्प्रदायवालों को, अपने मतावलम्बियों को ही प्रेम करते हैं तथा दया और भलाई करते हैं; परन्तु दूसरे मतावलम्बियों के प्रति इन्हें नीचातिनीच कार्य करने में तनिक भी संकोच नहीं होता।

पर यह आशंका केवल निम्नस्तल भक्ति में ही है, जिसे 'प्रारम्भिक' अथवा 'गौणी भक्ति' कहते हैं। यही भक्ति जब परिपक्व होकर 'परा-भक्ति' में परिणत होती है तो भयावह कट्टरपन्थी की कोई आशंका नहीं रहती। इस 'परा-भक्ति' से अभिभूत व्यक्ति प्रेमस्वरूप भगवान के इतना निकट पहुँच जाता है कि वह घृणाभाव को विस्तृत करने का यन्त्र नहीं बना रहता।

इस जीवन में सबको सामञ्जस्य के साथ चरित्र-संगठन का सौभाग्य नहीं प्राप्त होता, पर हम जानते हैं कि जिसके चरित्र में ज्ञान, भक्ति और योग सम भाव से विराजमान हों, अपेक्षाकृत उसी का चरित्र सर्वश्रेष्ठ होता है। पक्षी को उड़ने के लिये तीन वस्तुएँ आवश्यक हैं, दो पक्ष और एक संचालित पुच्छ। ज्ञान और भक्ति इसी प्रकार के दो पंख हैं और इनका सामञ्जस्य रखने

के लिये पुच्छ-स्वरूप योग है। जो लोग इन तीनों साधन प्रणालियों का एक साथ अनुष्टान नहीं कर सकते और एकमात्र भक्ति-पथ का अवलम्बन करते हैं, उन्हें यह सदैव स्मरण रहे कि वाह्य-अनुष्ठान और क्रिया-कलाप (यद्यपि प्रथम अवस्था के साधकों के लिये अत्यन्तावश्यक है) की उपयोगिता ईश्वर के प्रति प्रगाढ़-प्रेम उत्पन्न करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग के उपदेशकों में कुछ सामान्य मतभेद है, यद्यपि दोनों ही भक्ति के प्रभाव को स्वीकृत करते हैं। ज्ञानी भक्ति को मुक्ति का उपाय मात्र मानते हैं; परन्तु भक्तगणों को इसमें उपाय तथा उद्देश्य दोनों ही सम्मिलित मिलते हैं। हमारी समझ में यह अन्तर नाममात्र ही को है। प्रकृत पक्ष में, भक्ति को केवल साधन स्वरूप मानने से वह निम्नस्तल की उपासना ही हो जाती है और यही निम्नस्तल की उपासना आगे चलकर उच्चस्तल भक्ति में अभेद भाव से परिणत होती है। सभी लोग अपनी-अपनी साधना प्रणाली की तारीफ़ करते हैं। पर वे नहीं जानते कि पूर्ण भक्ति से अयाचित भी ज्ञान प्राप्ति होती है तथा पूर्ण ज्ञान में प्रकृत भक्ति अभेद भावेन सम्मिश्रित है।

यह सिद्धान्त समझकर तथा ध्यान धरकर आओ देखें कि इस विषय में वड़े-बड़े वेदान्त भाष्यकारों ने क्या कहा है? भगवान शङ्कराचार्य ने "आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है कि "लोग कहते हैं—अमुक व्यक्ति गुरु-भक्त है, अमुक व्यक्ति राज-भक्त है।" यह उन्हीं के लिये कहा जाता

है, जो गुरु या राजा के आदेशानुवर्ती हैं तथा जो लोग उनके आदेशानुवर्तन को ही लक्ष्य करके कार्य करते हैं। इसी प्रकार लोग कहते हैं कि 'पतिप्राणा स्त्री प्रवासी पति का ध्यान करती है तो यहाँ भी एकरूप, साग्रह और अविच्छिन्न ध्यान ही लक्षित किया गया है।' भगवान् शंकर के मतानुसार यही भक्ति है। *

और भगवान रामानुज "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" सूत्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं:—

"जिस प्रकार एक वर्तन से निक्षिप्त तैल दूसरे वर्तन में अविच्छिन्न धार से प्रवाहित होता है, उसी प्रकार ध्येय का निरंतर स्मरण का नाम ध्यान है। जब इस प्रकार का भगवत-ध्यान प्राप्त हो जाता है तो सब वन्धन मुक्त हो जाते हैं। शास्त्र इस निरंतर स्मरण को मुक्ति का कारण वतलाते हैं। इस स्मृति अथवा संस्मरण और दर्शन में कोई अन्तर नहीं; क्योंकि जो सुदूरवर्ती तथा अत्यन्त सन्निहित उस परम पुरुष को देख लेता है, उसकी सारी हृदय-ग्रंथियाँ टूट जाती हैं, सब संशय विनष्ट हो जाते हैं तथा सर्व कर्मक्षय हो जाता है। इस शास्त्रोक्त वाक्य में 'स्मृति'

---

* तथा हि लोके गुरुमुपास्ते राजानमुपास्ते इति च यस्तात्पर्येण गुर्वादीनानुवर्तते स एवमुच्यते। तथा ध्यायति प्रोषितनाथा पतिमिति या निरन्तरस्मरणा पतिं प्रति सोत्कण्ठा सेवमभिधीयते।

ब्रह्म सूत्र (१ पाद १ सूत्र शंकर भाष्य)

'दर्शन' के समानार्थक व्यवहार किया गया है। क्योंकि जो निकट है वह देखा जा सकता है; किन्तु दूरवर्ती वस्तु का केवल स्मरण हो सकता है। तथापि शास्त्र हमें निकटस्थ तथा दूरस्थ दोनों को देखने को कहता है। इस प्रकार स्मरण तथा दर्शन दोनों समकार्यकर और समभाव हैं। यही स्मृति प्रगाढ़ होने पर दर्शन ही के समान हो जाती है। शास्त्रों के प्रधान-प्रधान श्लोकों से यह स्पष्ट है कि सर्वदा-स्मरण ही उपासना है। ज्ञान—जो निरंतर उपासना से अभिन्न है—निरंतर-स्मरण ही कहा गया है। इसीलिये जब स्मृति प्रत्यक्षानुभूति का आकार धारण करती है, तो शास्त्र उसे मुक्ति का कारण कहता है। यह 'आत्मन्' नाना प्रकार की विद्याओं द्वारा, बुद्धि द्वारा किंवा अनवरत वेदाध्ययन द्वारा नहीं प्राप्त होती। जिसको यह आत्मा स्वयम् वरती है, वही इसे प्राप्त करते हैं और उन्हीं को यह आत्मा अपना स्वरूप प्रकाशित करती है। यहाँ पहले तो यह कहा गया है कि यह आत्मा श्रवण, मनन तथा अधिक अध्ययन द्वारा भी नहीं प्राप्त होता और फिर कहते हैं कि आत्मा जिसको स्वयम् वरती है, उसे ही वह प्राप्त होती है। अत्यन्त प्रिय को ही वरा जाता है। जो आत्मा से अतिशय प्रेम करते हैं, आत्मा उन्हीं को अत्यन्त प्रेम करती है। और इस प्रिय व्यक्ति को आत्मा प्राप्त करने में स्वयं भगवान सहायता करते हैं। भगवान ने स्वयं कहा है "जो मुझसें निरंतर आसक्त है और प्रेम से मेरी उपासना करता है, मैं उसकी बुद्धि और भावनाओं को ऐसा संचालित करता हूँ कि वह मुझे

पा लेता है" ॐ इसीलिये कहते हैं कि जिनको यह अनुभावात्मक स्मृति प्रत्यक्ष में अतिप्रिय लगती है (जिन्हें यह स्मृति विषयो-

---

ॐ ध्यानं च तैलधारावदविच्छिन्न स्मृति संतानरूपा ध्रुवा स्मृतिः स्मृत्युपलम्भे सर्वग्रन्थीनाम् विप्रमोक्षः इति ध्रुवायाः स्मृतेरपवर्गोपायत्व-श्रवनात्। सा च स्मृतिदर्शनसमानाकारा। 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वं संशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परापरे।' इत्यानेकानेकार्थात् एवं च सति 'आत्मा वारे दृष्टव्यः' इत्यनेन निदिध्यासनस्य दर्शनरूपता विधीयते। भवति च स्मृतेंभावना प्रकर्पाद्दर्शन रूपता। वाक्यकारेणैतत सर्वं प्रपञ्चितम्। 'वेदनमुपासनम् स्यात् तद्विषये श्रवणादितिं। सर्वासुपनिषत्सु मोक्षसाधनतया विदितं 'वेदनुपासन' इत्युक्तं 'सकृति-प्रत्ययं' कुर्याच्छब्दर्थस्य कृतत्वात् प्रयाजादिवत् इति पूर्वपक्षं कृत्वा 'सिद्धं तूपासन शब्दात्' इति वेदनमसकृद्रावृत्तं मोक्ष-साधनमिति निर्णीतम्। 'उपासनं स्यात् ध्रुवानुस्मृतिदर्शनान्निवचनोश्चेतिं' तस्यैव वेदनस्योपासनरूपस्यासकृदावृत्तस्य ध्रुवास्मृतित्वमुपवर्णितम्। सेयं स्मृति दर्शन रूपा प्रतिपादिता, दर्शनरूपता च प्रत्यक्षतापत्तिः। एवं प्रत्यक्षतापन्नामपवर्गसाधनभूतां स्मृतिम् विशिनष्टिनायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न वहुना श्रुतेन, यमे वेष वृणुते तेन लभ्यस्तस्येष आत्मा विवृणुते तनुम् स्वाम् इति अनेन केवल श्रवणमननिदिध्यासनामात्मप्राप्तानुपायतामुक्ता 'यमेवैष आत्मा वृणुते तेनेव लभ्य इत्युक्तम्। प्रियतम एव हि वरणीयो भवति, यस्यार्थं निरतिशय-प्रिय स एवास्य प्रियतमो भवति। यथायं प्रियतम आत्मानं प्राप्नोति, तथा स्वयमेव भगवान प्रयतत इति भगवतेवोक्तं। तेषां सतत युक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकं। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयन्ति इति प्रियाहि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं सच मम प्रियः इति च। अतः साक्षात्काररूपा स्मृतिः, स्मर्यमाणात्यर्थं प्रियत्वेन स्वयमप्यत्यर्थं प्रिया यस्य स एव परमात्मना

भूत परम पुरुष अत्यन्त प्रिय है) परमात्मा उसी को वरण करता है—उसी को वह परम पुरुष प्राप्त होता है। भक्ति शब्द द्वारा यही निरन्तर स्मरण लक्षित किया गया है।

पतञ्जलि के "ईश्वर प्रणिधानाद्वा" सूत्र की व्याख्या करते हुए श्रीभोजराज कहते हैं कि "प्रणिधान उस भक्ति को कहते हैं जिसमें फलाकांक्षा (इन्द्रियों के भोगादि) न हों तथा सर्व कर्म उस परम गुरु को समर्पित हो।" ❀ और भगवान व्यास ने इसकी व्याख्या की है कि "प्रणिधान उस भक्ति विशेष को कहते हैं, जिसके द्वारा योगी उस परम पुरुष की कृपा को प्राप्त करता है और अपनी सारी वासनाओं को सन्तुष्ट करता है।" + शाण्डिल्य के मतानुसार "ईश्वर में परमानुरक्ति ही भक्ति है।" ÷ किन्तु भक्तराज प्रह्लाद ने जो भक्ति की संज्ञा की है, वह सर्वापेक्षा

वरणीयो भवतीति तेनैव लभ्यते परमात्मेत्युक्तम् भवति, एवं रूपा ध्रुवानुस्मृतिरेव भक्तिशब्देनाभिधीयते।

(भक्ति सूत्र १म सूत्र पर रामानुजीय भाष्य)

❀ प्रणिधानं तत्र भक्ति विशेषोविशिष्टमुपासनं सर्वक्रियाणामपि तत्रार्पणम्। विषयसुखादिकं फलमनिच्छन् सर्वाः क्रियास्तस्मिन् परम-गुरावर्पयति।

(पातञ्जल दर्शन, प्रथम अध्याय, समाधिपाद)

+ प्रणिधानाद्भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुग्रहणात्यभिधान मात्रेण।

(पातञ्जल दर्शन, १ अध्याय, समाधिपाद, व्यासभाष्य,)

÷ सा परानुरक्तिरीश्वरे—(शाण्डिल्य सूत्र १ म अ० २ सूत्र)

समीचीन है। कहते हैं कि 'अज्ञानी लोग जिस प्रकार इन्द्रिय-जन्य विषय वासनाओं पर मुग्ध रहते हैं, हे भगवन्! तुम्हारा स्मरण करते समय तुम्हारे प्रति मेरी यह तीव्र आसक्ति कहीं मेरे हृदय से निकल न जाय।'' * आसक्ति ?—किसके लिये आसक्ति ? परम प्रभु ईश्वर के लिये। और किसी के प्रति—चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो—आसक्ति भक्ति नहीं कही जा सकती। प्रमाण स्वरूप भगवान रामानुज ने अपने श्री भाष्य में एक प्राचीन आचार्य की उक्ति उद्धृत की है—"ब्रह्मा से लेकर एक क्षुद्र तृण तक—यानी जगतन्तर्गत सब प्राणी—कर्म बन्धनयुक्त जीवन और मृत्यु के वशीभूत हैं। साधक के ध्यान में यह अज्ञान सीमान्तवर्ती तथा परिवर्तनशील होने के कारण सहायक नहीं हो सकते। + शाण्डिल्य के सूत्र में 'अनुरक्ति' शब्द की व्याख्या करते हुए श्री स्वप्नेश्वर ने कहा है कि इसका अर्थ अनु-पश्चात् और रक्ति-आसक्ति अर्थात् 'ईश्वर का स्वरूप और महिमा जानने पर उनमें जो आसक्ति आविर्भूत

---

* या प्रीतिरविवेकानाम् विषयेष्वनुपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु।
(विष्णु पुराण १ अंश २० अध्याय)

+ आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तो जगदन्तर्व्यवस्थिताः
प्राणिनः कर्म जनिता संसार वशवर्तिनः
यतस्ततो न ते ध्याने ध्यानिनामुपकारकाः
अविद्यान्तर्गताः सर्वे ते हि संसार गोचराः
(शाण्डिल्य सूत्र १ आ० २ सूत्र स्वप्नेश्वर टीका)

होती है।" ॐ नहीं तो किसी को भी अपने स्त्री, पुत्रादि के प्रति अन्ध आसक्ति को भक्ति कहते। अतएव यह स्पष्ट सिद्ध है कि साधारण पूजा पाठादि से लेकर ईश्वर में प्रगाढ़ अनुराग तक अध्यात्मिक अनुभूतिजन्य चेष्टा परम्परा का ही नाम भक्ति है।

ॐ भगवन्महिमादिज्ञानादनु। पश्चाज्जाय मानत्वादनुरक्तिरित्युक्तम।
(शाण्डिल्य सूत्र, १ अ० २ सूत्र, स्वप्नेश्वर टीका)

ईश्वर का स्वरूप

ईश्वर कौन है ?—"जिसके द्वारा जगत् का जन्म, स्थिति और लय होता है"। ※ वह ईश्वर—"अनन्त, शुद्ध, नित्य युक्त, सर्व शक्तिमान, सर्वज्ञ, परम कारुणिक, गुरु का भी गुरु" है। + और सब के ऊपर वह ईश्वर "अनिर्वचनीय प्रेम स्वरूप" है। ÷

यह सब अवश्य ही सगुण ईश्वर की संज्ञाएँ हैं। तो क्या ईश्वर दो हैं ? ज्ञानियों ने जिसे 'नेति-नेति' कहकर सच्चिदानन्द स्वरूप बतलाया है क्या वह कोई भक्तों के प्रेममय भगवान् से विभिन्न है ? नहीं—वह एक ही सच्चिदानन्द स्वरूप प्रेममय भगवान् हैं—सगुण तथा निर्गुण वे ही दोनों हैं। इसका सर्वदा ध्यान रखना चाहिए कि भक्त के उपास्यदेव सगुण ईश्वर ब्रह्म से विभिन्न नहीं। सब कुछ वहीं 'एकमेवाद्धतीयम्' ब्रह्म है। यह निर्गुण ब्रह्म अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण प्रेम तथा उपासना के योग्य नहीं है। इसीलिए भक्त ब्रह्म के सगुण-स्वरूप को अर्थात् परम-नियन्ता

※ जन्माद्यस्य यतः। (ब्रह्म सूत्र, १म अध्याय १म पाद २ सूत्र)

+ पातञ्जल समाधिपाद २५, २६।

÷ स ईश्वर अनिर्वचनीय प्रेम स्वरूपः। शाण्डिल्य सूत्र।

पिता को उपास्य रूप में स्थापित करता है। उपमा द्वारा भी समझा जा सकता है—

ब्रह्म मिट्टी अथवा उपादान के समान है, जिससे अनेकों वस्तुएँ बनाई जाती हैं। मिट्टी रूप में तो वे सब एक ही वस्तु हैं; किन्तु अपना-अपना स्वरूप तथा प्रकाश इन सब वस्तुओं को पृथक्-पृथक् कर देता है। उत्पत्ति के पहले ये सब एक स्वरूप मिट्टी थीं और उपादान के हिसाब से भी ये एक ही हैं; किन्तु ज्योंही इन्होंने विशेष-विशेष रूप धारण करना प्रारम्भ किया और जबतक उनका यह स्वरूप रहा उतने दिन वे अलग-अलग हैं। मिट्टी का चूहा कभी मिट्टी का हाथी नहीं हो सकता; क्योंकि गठितावस्था में इनकी विशेष आकृति ही इनके विशेपत्व का ज्ञापक है। हाँ! विशेष आकृति विहीन मिट्टी में ये सब अवश्य एक ही हैं। ईश्वर उसी पूर्ण सत्य-स्वरूप की उच्चतम अभिव्यक्ति है अथवा मनुष्य मन द्वारा सर्वोच्च उपलब्धि है। सृष्टि अनादि है—और ईश्वर भी अनादि।

वेदान्त-सूत्र के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ पाद में मुक्ति लाभ के बाद मुक्तात्मा को जो अनन्त शक्ति और ज्ञान प्राप्त होता है, उसका वर्णन करते हुए भगवान् व्यासजी एक और सूत्र में कहते हैं; किन्तु कोई भी सृष्टि की स्थिति तथा प्रलय की शक्ति नहीं प्राप्त कर सकता; क्योंकि यह शक्ति केवल ईश्वर ही की है"। *

---

* जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च।

ब्रह्म सूत्र, ४ अध्याय ४ पाद २१ सूत्र)

इस सूत्र की व्याख्या करते समय द्वैतवादी भाष्यकार परतन्त्र जीव को ईश्वर की अनन्त शक्ति और पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्तकर पाना असम्भव वतलाते हैं। घोर द्वैतवादी भाष्यकार श्री माधवाचार्य ने वाराह पुराण से उद्धृत एक श्लोक द्वारा इस सूत्र की संक्षिप्त व्याख्या की है।

इसी सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार रामानुज कहते हैं, संशय होता है कि मुक्तात्मा की शक्ति परम पुरुप की असाधारण शक्ति (अर्थात् सृष्टि, स्थिति तथा विनाश की शक्तियों) में सम्मिलित रहती है अथवा तद्रहित केवल परम पुरुप का साक्षात्कार ही उसका ऐश्वर्य है। युक्ति युक्त तो यह मालूम होता है कि मुक्तात्मा जगत् का नियन्त्रत्व प्राप्त करता है; क्योंकि शुद्ध-स्वरूप होकर वह परम एकत्व लाभ करता है"। इस शास्त्रोक्ति के अनुसार यह स्पष्ट है कि मुक्तात्मा परम पुरुप से एकत्व प्राप्त करता है। अन्य स्थल पर यह भी कहा गया है कि मुक्तात्मा की सारी वासनाएँ सन्तुष्ट हो जाती हैं। अस्तु, परम एकत्व और सारी वासनाओं की तुष्टि विना परम पुरुष की असाधारण शक्ति के (अर्थात् जगन्नियन्त्रत्व शक्ति के विना) नहीं हो सकती। अतएव समुदय वासनाओं की परिपूर्णता और परम एकता प्राप्त करने का अर्थ है—समुदय जगत् का नियन्त्रत्व लाभ करना। इसके उत्तर में हमें कहना है कि जगत् नियन्त्रत्व को छोड़कर और सर्व शक्तियाँ मुक्तात्मा प्राप्त करता है। जगत् नियन्त्रत्व का अर्थ है जगत् के सारे स्थावर तथा जङ्गमों के विभिन्न स्वरूप, स्थिति तथा

वासनाओं का नियंन्त्रत्व ; किन्तु मुक्तात्माओं में यह जगन्नियन्त्रण शक्ति नहीं। हाँ—उनकी परमात्म दृष्टि का आवरण हट जाने से उन्हें प्रत्यक्ष ब्रह्मानुभूति अवश्य है और यही उनका ऐश्वर्य है। इसका प्रमाण क्या है? केवल शास्त्र वाक्य। शास्त्रों में कहा गया है कि निखिल जगत् नियन्त्रत्व केवल परब्रह्म ही का गुण है। यथा "जिससे सर्व वस्तुएँ जन्म लेती हैं, जो स्थिति रखता है और जिसमें सर्व वस्तुएँ प्रलयकाल में समा जाती हैं। उसको जानना चाहते हो तो वह ब्रह्म ही है।" यदि यह जगत् नियन्त्रत्व शक्ति मुक्तात्मा का साधारण गुण होता तो उल्लिखित श्लोकार्थ ब्रह्म का लक्षण कदापि नहीं हो सकता ; क्योंकि नियन्त्रत्व-गुण ही ब्रह्म का लक्षण है। असाधारण लक्षण विशेष द्वारा ही किसी वस्तु की व्याख्या हो सकती है। अतएव निम्नोद्धृत शास्त्र वाक्य परम पुरुष को जगन्नियन्त्रणकर्तारूप व्याख्या करते हैं तथा मुक्तात्माओं की ऐसी व्याख्या कहीं नहीं मिलती, जिससे जगन्नियन्त्रत्व उनका गुण माना जाय। शास्त्र वाक्य है—"वत्स—आदि में एकमेवाद्वितीयम् था। उसने आलोचना की कि मैं बहुतों की सृष्टि करूँगा और उसने तेजस् की सृष्टि की"। "आदि में केवल ब्रह्म ही था—वह परिणत हुआ—क्षत्र रूप उसने सुन्दर स्वरूप सृजन किया—सब देवता गण यथा वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ईशान उसके क्षत्र रूप हैं।" "आदि में केवल आत्मा ही था—और कुछ भी क्रियाशील न था। उसने विचारा "मैं जगत की सृष्टि करूँगा—फिर उसने इस जगत की सृष्टि की।' 'एकमात्र नारायण ही थे।

ब्रह्मा, ईशान, द्यावापृथ्वी, तारा जल, अग्नि, सोम अथवा सूर्य कुछ नहीं था। अकेले वह सुखी न हुए, ध्यान धरने पर उन्हें एक कन्या, दस इन्द्रियाँ इत्यादि जन्मीं'। 'जो पृथ्वी पर रहते हुए भी पृथ्वी से स्वतंत्र है' से लेकर 'जो आत्मा में वास करता हुआ' इत्यादि। *
दूसरे सूत्र की व्याख्या में रामानुज कहते हैं, "यदि कहो कि यह सब सत्य नहीं है; क्योंकि वेद में इसके विपरीतार्थ अनेक श्लोक हैं तो हम कहेंगे कि वह निम्नदेव-लोक में मुक्तात्मा के ऐश्वर्यमात्र का वर्णन है। × यह भी एक प्रकार की सहज मीमांसा हुई। यद्यपि रामानुज-मतावलम्बी समष्टि की एकता स्वीकृत करते हैं तथापि इस समष्टि में उनके मतानुसार अनन्त भेद समूह हैं। अतएव रामानुज के लिये सगुन ईश्वर और जीवात्मा की भेद रक्षा द्वैतसिद्धान्त द्वारा कठिन न था।

अद्वैत मत के बड़े-बड़े भाष्यकारों का कथन भी अब हम बिचारेंगे। हम देखेंगे कि द्वैतवादियों की आशाओं तथा इच्छाओं को परितृप्त करते हुए अद्वैतवादियों ने ब्रह्मभावापन्न मानव जाति की महोच्च चरमगति का सामञ्जस्य किस सुन्दरता से स्थापित किया है। जो मुक्ति लाभ करके भी अपने व्यक्तित्व की रक्षा

---

* किं मुक्तस्यैश्वर्यं जगत्सृष्टादि......न चेतेषु निखिलजगन्नियमनं परम पुरुषं प्रकृत्येव श्रुयते' इत्यादि।

(ब्रह्म सूत्र ४ अ० ४ पाद २१ सूत्र, रामानुज भाष्य)

× प्रत्यक्षोपदेशान्नेतिचेन्नाधिकारिक मण्डस्थोक्तेः।

(इस सूत्र की ब्रह्म सूत्र में ४। ४ २८ की रामानुजीय भाष्य देखो)

करना चाहते हैं और ईश्वर से स्वतंत्र रहना चाहते हैं, उनके लिये अपनी इच्छापूर्ति तथा सगुणब्रह्म के सम्भोग के लिए यथेष्ट अवसर है। इन्हीं की कथा भागवत पुराण में इस प्रकार वर्णित है, "हे राजन्। भगवान की ऐसी गुणराशि है कि सब मुनि-आत्माएँ, जिनके सभी वंधन छूट चुके हैं, भगवान् के प्रति अहेतु की भक्ति कर सकते हैं।" +

सांख्य सिद्धान्त से इन्हीं लोगों का वर्णन प्रकृतिलीन बतलाया गया है। मुक्ति लाभ करके दूसरे कल्प में यही लोग जगत के शासनकर्ता रूप उत्पन्न होते हैं। परन्तु इनमें से कोई भी ईश्वर तुल्य नहीं हो पाता। जो लोग उस अवस्था को प्राप्त करते हैं जहाँ सृष्टि, सृष्ट, अथवा सृष्टा नहीं, जहाँ ज्ञाता, ज्ञेय, अथवा ज्ञान नहीं, जहाँ मैं, तुम और वह नहीं, जहाँ प्रमाता, प्रमेय या प्रमाण कुछ भी नहीं, वहाँ कौन किसे देखता है?' वह सब कुछ से परे हैं, जहाँ वाक्य अथवा मन कोई नहीं जा सकता, वहाँ जाते हैं, जिसे सर्वशक्ति ने भी 'नेति-नेति' कहकर वर्णन किया है। किन्तु जिन्हें यह अवस्था प्राप्त करने की रुचि नहीं, वे उसी एक ब्रह्म को प्रकृति, आत्मा और दोनों में अन्तर्यामी ईश्वर इस त्रिधाविभक्त रूप में देखते हैं। जब प्रह्लाद अपने को भूल गया तो उसे जगत तथा उसका कारण कुछ न दिखलाई पड़ा—सब

+ आत्मारामश्च मुनयो निर्ग्रन्थाहप्युरुक्रमे।
कुर्वन्ते हेतुकीम् भक्तिम् इत्थद्भुतगुणोहरिः।
(श्री मद्भागवत १ स्कंध १ अ० १० श्लोक)

कुछ उसे एक अनन्तरूप प्रतीत हुआ। किन्तु ज्योंही उसे ध्यान आया कि मैं प्रह्लाद हूँ, त्योंही उसके सामने संसार और उसका आधार स्वरूप अशेष—कल्याण गुणराशि जगदीश्वर दिखलाई दिया। महाभाग्यशाली गोपियों की भी यही अवस्था हुई। जिस समय वे अहंज्ञानशून्य रहतीं तो सब कुछ उन्हें कृष्णरूप दिखलाई पड़ता और जब वे अपने और अपने उपास्यदेव में भेद-भाव की चिन्ता करतीं, त्योंही उन्हें गोपीभाव आ जाता और विरह-व्यथा प्रतीत होती। तभी उनके सम्मुख मृदुहास्य युक्त, पीताम्बरधारी मालाभूषित साक्षात् मन्मथ का मदमथनकारी कृष्ण आविर्भूत होते थे।×

अच्छा, अब हम फिर आचार्य शंकर की बात पर आते हैं। वे कहते हैं, "जो सगुण ब्रह्मोपासना के बल से परमेश्वर से एकीभूत होगये हैं और जिनका मन अव्याहत है, उनका ईश्वर असीम है अथवा ससीम ?" संशय उठते ही उत्तर मिलता है कि उनका ईश्वर असीम है ; क्योंकि शास्त्रों में कहा है "उन्हें स्वराज्य मिल जाता है" "सब देवता उनकी पूजा करते हैं" "सारा जगत उनकी इच्छा पूरक है।" इसके उत्तर में व्यासजी ने कहा है, "जगत की सृष्टि आदि छोड़कर।" मुक्तात्माएँ जगत की सृष्टि, स्थिति, प्रलय को छोड़कर अणिमादि अन्यान्य शक्तियाँ लाभ करते हैं।

× तासामाविर्भूच्छोरिः स्मयमान मुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः।
(श्री मद्भागवत १० स्कंध ३२ अ० २ श्लोक)

जगत का नियंत्रण तो नित्यसिद्ध ईश्वर के ही हाथ है; क्योंकि सृष्टि संबंध में जहाँ कहीं भी शास्त्रोक्ति मिलती है, वह सब ईश्वर के लिये। उन स्थलों पर मुक्तात्माओं का कोई प्रसंग ही नहीं मिलता। वही परम पुरुष ही केवल जगन्नियन्त्रत्व करता है। सृष्टि आदि के सम्बन्ध में जितने शास्त्रीय श्लोक मिलते हैं, वे सब ईश्वर को ही लक्षित करते हैं। इसके अतिरिक्त ईश्वर को नित्य सिद्ध का विशेषण भी दिया गया है। यह भी कहा गया है कि अणिमादिक शक्तियाँ ईश्वरोपासना और ईश्वरान्वेषण द्वारा प्राप्त होती हैं। अतएव उनकी शक्तियाँ असीम नहीं हैं। साथ ही जगन्नियन्त्रत्व से उनका कोई सम्बन्ध भी नहीं बतलाया जाता। फिर उनके वशीभूत मन अलग-अलग होने से यह सम्भव है कि उनकी इच्छाओं में विभिन्नता हो। यदि एक सृष्टि की इच्छा करता है तो दूसरा विनाश की इच्छा कर सकता है। इस गोलमाल से बचने का एक ही उपाय है कि सब लोगों की इच्छाएँ एक की इच्छा के आधीन हों, इसीलिये यह सिद्धान्त है कि मुक्त गणों की इच्छा उसी परम पुरुष की इच्छा के आधीन है। *

अतएव यह सिद्ध है कि भक्ति का प्रयोग केवल सगुण ब्रह्म के प्रति हो सकता है। देहाभिमानी पुरुष बड़े कष्ट से अव्यक्त

---

* ए सगुण ब्रह्मोपासनात्......न्यवतिष्टन्ते।

(देखो ब्रह्म सूत्र ४ अ० ४ पाद २१ सूत्र शङ्कर भाष्य)

गति प्राप्त कर सकता है। * भक्ति और हमारी प्रकृति में सामञ्जस्य है। यह सत्य है कि ब्रह्म के मानवीय भाव के अतिरिक्त हम और किसी भाव को नहीं धारण कर पाते; किन्तु क्या यह सभी ज्ञात वस्तुओं के बारे में नहीं कहा जा सकता। संसार के सर्वोच्च मनोविज्ञानवित् भगवान कपिल ने हजारों वर्ष पहले प्रमाणित किया है कि हमारा अन्तर अथवा वहिं सब प्रकार का विषय ज्ञान या धारणा के लिये मानवीय ज्ञान एक उपादान है। अपने शरीर से लेकर ईश्वर तक विचार करने पर मालूम होगा कि हमारे अनुभूत सब वस्तुज्ञान में एक और वस्तु का सम्मिश्रण है—वह वस्तु चाहे जो हो, और इसी अवश्यम्भावी संमिश्रण को हम सचराचर सत्य समझते हैं। वास्तव में जहाँ तक सम्भव है, मनुष्य यही सत्य समझ भी सकता है। अतएव जो लोग कहते हैं कि मानवीय भावमय ईश्वर असत्य है, मिथ्या प्रलाप करते हैं। पाश्चात्य विज्ञानवाद (Idealism) और सर्वास्तित्ववाद (Realism) में भी यही झगड़ा है। यह झगड़ा मालूम तो वड़ा भयानक होता है किन्तु; वास्तव में 'सत्य' शब्द के अर्थ ही पर सब झंझट है। सत्य शब्द द्वारा जो भाव प्रकट होता है, ईश्वर भाव उस सब में व्याप्त है। जैसे जगत् की अन्यान्य वस्तु सत्य हैं, वैसे ही ईश्वर भी सत्य है और जिस अर्थ में सत्य शब्द ऊपर प्रयुक्त है उसके अतिरिक्त उसका और कुछ अर्थ नहीं, यही हमारी ईश्वर सम्बन्धी दार्शनिक धारणा है।

---

* अव्यक्ताहि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।
(भगवद्गीता १२ अध्याय ५ श्लोक)

प्रत्यक्षानुभूति धर्म

भक्तों के लिये यह सब शुष्क विषय जानने की आवश्यकता केवल इच्छाशक्ति को दृढ़ करने के लिये है। इसके अतिरिक्त इनकी कोई उपयोगिता नहीं। क्योंकि वे एक ऐसे पथ के पथिक हैं, जिससे उन्हें तर्क के कुहेलिकामय तथा अशान्तिप्रद राज्यसीमा से परे प्रत्यक्षानुभूति का आनन्दप्रद साम्राज्य मिल जाता है। ईश्वर की कृपा से वे एक ऐसी अवस्था को पहुँचते हैं जहाँ से पाण्डित्याभिमानियों का प्रिय-तर्क बहुत पीछे रह जाता है और बुद्धि की सहायता से अन्धकार में वृथान्वेषण की जगह प्रत्यक्षानुभूति का उज्ज्वल प्रकाश मिलता है। उस समय वे कुछ भी विचार अथवा विश्वास नहीं करते। वह एक रूप प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। और वह तर्क नहीं करते, प्रत्यक्ष करते हैं। और क्या यह भगवान को देखना, उनको प्राप्त करना और उनका सम्भोग करना अन्यान्य सारे विषयों से श्रेष्ठ नहीं है? केवल यही नहीं अनेको ऐसे भक्त हैं जो भक्ति को मुक्ति से भी श्रेष्ठतर वर्णन करते हैं। क्या यह हमारे जीवन का सर्वोच्च प्रयोजन नहीं है? ऐसे भी लोग संसार में हैं (और उनकी संख्या भी अधिक है) जिन्होंने यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि जो पाशविक सुख प्रदान करे उसीसे वास्तविक प्रयोजन है और उसीकी उपकारिता है। धर्म, ईश्वर, अनन्तता, आत्मा यह सब व्यर्थ हैं। यदि इनके

द्वारा दैहिक सुख अथवा अर्थ की प्राप्ति नहीं। इन लोगों के लिये यदि इन्द्रियसुख या इच्छातृप्ति न हुई तो सब व्यर्थ है। जिस व्यक्ति की जिस विषय में इच्छा प्रबल होती है उसे उसीमें लाभ मालूम होता है। अस्तु जो लोग 'खाओ, पियो, आनन्द करो, मरो' जीवन के ऊपर नहीं उठते उन्हें तो केवल इन्द्रियसुख में ही लाभ जान पड़ता है। उनके हृदयों में उच्चतर विषयों के प्रति सामान्य व्याकुलता भी जन्मने को कोई जन्म चाहिए। किन्तु जिनके सन्मुख ऐहिक जीवन के क्षणिक सुखों की अपेक्षा आत्मोन्नतिसाधन अधिक प्यारा होता है, उनके लिये तो भगवान तथा भगवत-प्रेम ही जीवन का सर्वोच्च और एकमात्र प्रयोजन रह जाता है। ईश्वरेच्छा से इस घोर भोगविलास पूर्ण संसार में अब भी ऐसे महात्माओं की कमी नहीं।

पहिले बतलाया गया है कि भक्ति परा और गौणी दो प्रकार की होती है। गौणी प्रथम साधन भक्ति है और परा भक्ति उसीकी परिपक्वावस्था होती है। क्रमशः हम समझेंगे कि भक्ति मार्ग पर अग्रसर होने में अनेकों बाह्य सहायों की आवश्यकता होती है। वास्तव में संसार के सारे धर्मों के पौराणिक तथा रूपक भाग उन्नतिकारी आत्माओं को प्रथमावस्था में सहायता देते हैं। यह भी विशेष विचारणीय विषय है कि बड़े-बड़े धर्मवीर उन्हीं धर्म-सम्प्रदायों में जन्मे हैं, जिनकी सारी धर्मप्रणाली पौराणिक भावबाहुल्य तथा अनुष्ठान की प्रचुरता से ओत-प्रोत है। जो धर्म-प्रणालियाँ शुष्क हैं—जिनमें कुछ भी कवित्व नहीं, कुछ भी

सुन्दरता नहीं, ऐसा कुछ भी नहीं जो जगत्-पथस्खलित-पद सुकुमार मन को दृढ़ अवलम्ब बनें—जो प्रणालियाँ धर्म रूपी छत के सुदृढ़-स्तम्भों को उखाड़ फेकना चाहती हैं और सत्य के संबंध में अज्ञान तथा भ्रमपूर्ण धारणा करके जो नाश करना चाहते हैं वे सारे उपादान, जो जीवनी शक्ति-संचारक हैं और जो धर्मरूपी लता को बढ़ाते हैं—ऐसी सारी धर्मप्रणालियों को भविष्य शीघ्र ही उन्हें बतला देता है कि अन्त: सार-शून्य उनके आधार के लिये केवल एक अनन्त शब्द जाल और तर्काभास के अतिरिक्त और कुछ नहीं। हाँ—समाज सुधार शायद हो। जिनकी ऐसी धर्म-प्रणाली है, उनमें से अधिक लोग, जानते हुए अथवा अज्ञानवश, जड़वादी होते हैं। उनके लिये ऐहिक जीवन का लक्ष्य केवल भोग है, जो उनके लिए सर्वस्व है, इष्टापूर्त है। इस अज्ञान और कट्टरता मिश्रित मत के अनुगामियों को उचित है कि वे अपने असली रूप में आकर नास्तिक तथा जड़वादियों का दल बढ़ाएँ। इसीमें संसार का कल्याण है। धर्मानुष्ठान तथा अपरोक्षानुभूति का एक बूँद भी अथाह वाक्य-प्रपंच सागर से सहस्रों गुना श्रेष्ठतर है। इस अज्ञान और कट्टरता के सूखे खेत में हमें एक आदमी—केवल एक आदमी भी तो उगता हुआ दिखाओ। नहीं तो, चुप रहो—हृदय कपाट खोल दो, सत्य के विमल प्रकाश में प्रवेश करो, और जो बिना समझे कुछ नहीं कहते, ऐसे भारतीय साधुओं के पैरों पर बच्चों की तरह बैठकर पढ़ो तो आओ हम सब सुनें, जो इन साधुगणों ने कहा है।

गुरु की उपयोगिता

प्रत्येक जीवात्मा पूर्णता प्राप्त करेगा—अन्त में सभी सिद्धि लाभ करेंगे। हम जैसे हैं वह अपने अतीत मन और कर्म का फल है। और इस समय हम जैसा कार्य और मनन करते हैं भविष्य में हम वैसे ही होंगे। किन्तु हमारे भाग्य संगठन में किसी बाह्य सहायता की आवश्यकता नहीं, ऐसा नहीं है। वरन् अधिकांश स्थलों पर इस प्रकार की सहायता की अत्यंत आवश्यकता है। जिस समय हमें यह सहायता प्राप्त हो जाती है तो हमारी उच्च शक्तियाँ और अव्यक्त भावनाएँ जाग उठती हैं, अध्यात्मिक जीवन अधिक सतेज हो जाता है, उन्नति शीघ्र होती है और अन्त में साधक शुद्धभावमय सिद्ध हो जाता है।

यह सञ्जीवनी शक्ति पुस्तकों से नहीं प्राप्त होती। आत्मा केवल दूसरे आत्मा से शक्ति प्राप्त कर सकता है और किसी वस्तु से नहीं। आजीवन पुस्तक पाठ करें—चाहे जितना बुद्धिमान हो जायँ—किन्तु अन्त में अध्यात्मिक उन्नति कुछ नहीं होती। यह बिल्कुल निरर्थक है कि बुद्धि के साथ-साथ अध्यात्मिक उन्नति भी होती है। पुस्तक पाठ करते-करते हमें भ्रम हो जाता है कि हमें अध्यात्मिक लाभ होता है। किन्तु यदि हम गम्भीर भाव से

विवेचना करें कि पुस्तक-पाठ से हमें क्या फल होता है तो मालूम हो जायगा कि हमारी बुद्धि तो अधिकाधिक तेज होती जाती है, किन्तु अन्तरात्मा को कोई लाभ नहीं। हम लोगों में प्रायः सभी को अध्यात्मिक वाक्यविन्यास की अद्भुत निपुणता प्राप्त है किन्तु कार्य करते समय—प्रकृति धर्मानुसार जीवन व्यतीत करने में—हम में कितनी कमी है—स्पष्ट ही है। इसका कारण यही है कि पुस्तकों का ढेर अध्यात्मिक जीवन की उन्नति के लिये पर्याप्त नहीं। जीवात्मा की शक्ति जागृत करने के लिये किसी दूसरी आत्मा द्वारा शक्ति-संचार आवश्यक है।

जिस व्यक्ति की आत्मा से दूसरे की आत्मा को शक्ति मिले उसे 'गुरु' कहते हैं और जिसकी आत्मा में शक्ति सञ्चारित होती है, उसे 'शिष्य'। इस प्रकार की शक्ति सञ्चारित करने में जो सञ्चार करता है, उसमें शक्ति-सञ्चारण शक्ति का होना आवश्यक है। बीज को शक्तिशाली होने की आवश्यकता है तो खेत भी खूब बना होना चाहिए। जहाँ यह दोनों विद्यमान हैं, वहीं प्रकृति धर्म का अपूर्व विकास होता है।

"धर्म का उपदेशक आश्चर्यजनक शक्तिमान होना चाहिए और श्रोता को भी निपुण होने की आवश्यकता है" ॐ। और जब दोनों वास्तव में आश्चर्यजनक और असाधारण होते हैं, तभी तो आश्चर्यजनक अध्यात्मिक उन्नति होती है, नहीं तो नहीं। इसी

ॐ आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा इत्यादि।
(काठोपनिषद् १ म अध्याय २ वल्ली ७ श्लोक)

प्रकार का व्यक्ति प्रकृति 'गुरु' कहलाता है और ऐसा चेला ही प्रकृति शिष्य या मुमुक्षु होता है। और सब तो धर्म के नाम का खेलवाड़ करते हैं। उन्हें थोड़ा कौतूहल—कुछ जानने की इच्छा मात्र होती है और यह सदा धर्मचक्र के बाहर ही रहते हैं। यह अवश्य है कि यह भी मूल्यहीन नहीं है; क्योंकि कभी-कभी इसी से धर्म-पिपासा जग उठती है और प्रकृति का यह कुछ विचित्र नियम है कि ज्यों ही खेत तैयार हो जाता है, तो उसे बीज कहीं न कहीं से अवश्य मिलता है। जभी आत्मा की धर्म-पिपासा प्रबल हो उठती है, तभी धर्म-शक्ति-सञ्चारक पुरुष उस आत्मा की सहायता के लिये अवश्य आता है। जब ग्रहण करनेवाले की आत्मा धर्म के आलोक को आकर्षित करने में पूर्ण और प्रबल हो जाती है तो उसके पास उसी आकर्षण से आलोकदायिनी शक्ति अवश्य आती है।

पर इस पथ में कई महाविघ्न भी हैं। जैसे, क्षणस्थायी-भावोच्छ्वास को आत्मा भ्रम से धर्म पिपासा समझ सकता है। हमें अपने जीवन में ही इसका प्रमाण मिलता है। हमारे जीवन में अनेकों अवसर आते हैं—जैसे अपने प्रियतम की मृत्यु होना—जब हमें घोर आघात होता है, मालूम होता है कि हम जिस पर हाथ धरते हैं, वही फिसलता-सा है। ऐसे समय कुछ अधिक दृढ़ तथा उच्च आश्रय की आवश्यकता है—हमें अवश्य धार्मिक होना चाहिए आदि। कुछ ही दिनों बाद यह भाव तरङ्गावली विलुप्त हो जाती है और हम जहाँ थे, वहीं फिर रह जाते हैं। हम सभी

ऐसे भावोच्छ्वासों को धर्म-पिपासा समझते हैं। किन्तु जब तक हम इन क्षणिक भावोच्छ्वासों को भ्रमवश प्रकृति धर्म-पिपासा समझेंगे, तब तक धर्म के लिये यथार्थ में स्थायी प्राण-पिपासा नहीं जागृत हो सकती और तभी तक शक्ति सञ्चारकारी गुरु के दर्शन भी नहीं मिल सकते। इसलिये जभी आपको यह मालूम पड़े कि सत्य प्राप्ति की आपकी चेष्टाएँ असफल हो रही हैं तो आपको अपना अन्तस्तल टटोलकर देखना चाहिए कि हृदय में धर्म के लिये प्रकृति आग्रह उत्पन्न हुआ है या नहीं। ऐसा करने पर अधिकांश में हमें यही प्रतीत होगा कि हम सत्य ग्रहण के उपयुक्त नहीं हैं—हम में प्रकृति धर्म पिपासा जागृति नहीं हुई है।

शक्ति सञ्चारक गुरु के सम्बन्ध में और भी कई विघ्न हैं। बहुत ऐसे हैं जो स्वयं अज्ञानाच्छन्न होते हुए भी अहङ्कार से अपने को सर्वज्ञ समझते हैं। यही नहीं ये लोग औरों को भी अपने कन्धों पर लादने का दावा करते हैं। इसी तरह अन्धे को अन्धा टिकाता है और दोनो कुएँ में गिर जाते हैं। "अज्ञान से आच्छादित अत्यन्त निर्बुद्धि होने पर भी अपने को प्रकाण्ड पण्डित समझनेवाले, अन्धे को टिकानेवाले अन्धे के समान, प्रत्येक पद पर फिसलनेवाले ऐसे लोग चारों ओर घूमते हैं"।

संसार ऐसे आदमियों से भरा पड़ा है। सभी गुरु बनना चाहते हैं, सभी भिखारी लक्ष-लक्ष दान देना चाहते हैं। जैसे यह भिखारी हास्यास्पद बन जाते हैं, वैसे ही ऐसे गुरु लोग।

गुरु और शिष्य के लक्षण

तो हम गुरु की पहचान कैसे करें ? प्रकाश करने में सूर्य को और किसी मशाल की आवश्यकता नहीं, उसे देखने के लिए मोमबत्ती जलाने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। सूर्योदय होते ही हम अपने आप जान जाते हैं कि वह उदय हो रहा है और संसार में जीवों के उद्धार के लिए गुरु के पदार्पण करते ही आत्मा को स्वभावतः मालूम हो जाता है कि उस पर सत्य के सूर्य का प्रकाश पड़ना प्रारम्भ होगया है। सत्य स्वतः प्रमाणित होता है—उसे प्रमाणित करने के लिए किसी अन्य साक्षी की आवश्यकता नहीं—वह स्वयं प्रकाशित होता है। हमारी प्रकृति के अन्तस्तल में वह प्रवेश करता है, जिसके सन्मुख सारा संसार बोल उठता है कि "यही सत्य है"। जिन आचार्यों के हृदय में ज्ञान और सत्य सूर्य के समान प्रकाश करते हैं, वही संसार के सर्वोच्च महापुरुष कहलाते हैं और जगत् के अधिकांश लोग उन्हीं को, ईश्वर मान कर, पूजा करते हैं। किन्तु अपेक्षाकृत अल्पज्ञानियों से भी हमें सहायता मिलती है। पर हममें वह अन्तर्दृष्टि नहीं है कि हम अपने आचार्य के विषय में यथार्थ

ज्ञान प्राप्त कर पावें। अस्तु गुरु तथा शिष्य दोनों के विषय में कई परीक्षाओं की आवश्यकता है।

शिष्य के आवश्यक गुण हैं—पवित्रता, प्रकृत-ज्ञान-पिपासा और अध्यवसाय। अशुद्धात्मा पुरुष कभी भी प्रकृत धार्मिक नहीं हो सकता। मनसा, वाचा, कर्मणा जो पवित्र नहीं, वह धार्मिक कैसे हो सकता है और ज्ञान-तृष्णा-के सम्बन्ध में तो यह सनातन-सत्य प्रसिद्ध ही है कि हम जो चाहते हैं वह पाते हैं "जा पर जाकर सत्य सनेहू—सो तेहि मिलहि न कछु सन्देहू"। जो वस्तु हम हृदय से (तन, मन, धन से) नहीं चाहते, वह हमें कभी नहीं मिलती। धर्म के लिए स्वाभाविक व्याकुलता बड़ी कष्टलभ्य वस्तु है—जितनी सरल हम लोग इसे समझते हैं उतनी नहीं है। केवल धर्म-कथा सुनने अथवा धर्म पुस्तक पढ़ने से हृदय में धर्म-भाव प्रबल हो जाता है ऐसा तो है नहीं। जबतक प्राणों में व्याकुलता उत्पन्न नहीं होती, जबतक हम अपनी प्रकृति पर विजय नहीं प्राप्त करते तब तक सदैव ही हमें अनवरत अभ्यास करते रहना चाहिए और अपनी पाशविक प्रकृति से निरंतर संग्राम करते रहना आवश्यक है। यह दो एक दिन का काम नहीं है—शत-शत जीवन पर्यन्त भी यह संग्राम चलता रहता है। किसी-किसी को सिद्धि अल्पकाल ही में प्राप्त हो जाती है पर यदि वह अनन्त काल में भी मिले तो हमें उसके लिए भी धैर्य से तैयार रहना चाहिए। जो शिष्य इस अध्यवसाय और धैर्य से साधना में प्रवृत्त होता है, उसके लिए मोक्ष अवश्यम्भावी हो जाता है।

गुरु के सम्बन्ध में हमें यह जानने की आवश्यकता है कि वह शास्त्रों का मर्मज्ञ है अथवा नहीं। संसार में सभी वेद, बाइबिल अथवा कुरान का पाठ करते हैं पर केवल शब्द समष्टि मात्र ही, जो धर्म की सूखी हड्डियों के समान है। जो गुरु शब्द-शक्ति के सहारे ही मन को संचालित करने का प्रयत्न करते हैं, वे भाव भंग कर डालते हैं; किन्तु जो शास्त्र के यथार्थ मर्म को जानते हैं, वही सच्चे धर्म गुरु होते हैं। शास्त्रों में शब्द जाल महावन के समान है, जिसमें पड़कर मनुष्य हिम्मत हार जाता है; परन्तु उसे पथ नहीं दर्शित होता है।" शब्द जाल महावन के समान मन विभ्रमित करने का कारण है—यथा "शब्दजालं महारण्यं चित्त-भ्रमण कारणम्"—विवेक चूड़ामणि में कहा गया है। "वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्र व्याख्यानकौशलम्—वैदुष्यं विदुषां तद्वत् भुक्तए न तु मुक्त ये" अर्थात् "शब्द योजना, सुन्दर भाषा में वक्तृता, और शास्त्रीय मर्मों की व्याख्या करने के अनेकों उपाय हैं, जो केवल पण्डितों के विचारार्थ और हमारे भोगार्थ हैं पर इनके द्वारा अन्तर्दृष्टि का विकास नहीं होता। जो धर्म व्याख्या करते हुए इस प्रणाली का अवलम्बन करते हैं, वे केवल अपना पाण्डित्य दिखाने के इच्छुक हैं—उनकी इच्छा यही रहती है कि संसार हमें महान पण्डित मानकर सम्मान करे। संसार के किसी भी प्रधान आचार्य ने शास्त्रों की इस प्रकार की विभिन्न व्याख्याएँ नहीं की हैं। उन्होंने शास्त्रीय श्लोकों को अपनी इच्छानुसार अर्थ करने का कभी भी प्रयत्न नहीं किया। तभी उन्होंने संसार को अत्यन्त

सुन्दर शिक्षा दे पाई। और जिनके पास सिखाने को कुछ है ही नहीं, वे तो केवल एक शब्द को लेकर उसी की व्याख्या करते हुए तीन चार पुस्तकें रच डालते हैं। उस शब्द की आदि क्या है, किसने उसका सर्व प्रथम प्रयोग किया, वह खाता क्या था और सोता कब था इत्यादि विषयों पर वे अपनी आलोचना करते हैं।

भगवान रामकृष्णजी एक कथा कहा करते थे कि एक आम के बाग़ में कुछ लोग पहुँचे। उनमें से जिनकी विषय बुद्धि अधिक थी, वे जुट गए आमों के पेड़ गिनने में, पेड़ों में आम गिनने में, वृक्षों की डालियाँ व पत्ते गिनने में।

पर उनमें से एक ने इन सब विषयों की कुछ भी चिन्ता न की और लगा आमों को चूसने। अब आप ही सोचें कि इनमें कौन अधिक बुद्धिमान था। आम खाने से तो पेट भरेगा मगर केवल पत्तियों के हिसाब-किताब से क्या लाभ हो सकता है? यह पत्ते और डालियों का गिनना और दूसरे को समझाना छोड़ो। अवश्य ही इसकी उपयोगिता है मगर धर्म क्षेत्र में कुछ नहीं है। जिन्होंने इस प्रकार पत्तियाँ, डालें ही गिनी हैं, उनमें से एक भी धर्मवीर न निकल सका। धर्म के लिए—जो मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है, जो मनुष्य के सर्वोच्च गौरव की वस्तु है—पत्ते गिनने के अति परिश्रम की आवश्यकता नहीं। यदि तुम भक्त होना चाहते हो तो कृष्ण मथुरा में जन्मे अथवा व्रजभूमि में, उन्होंने क्या किया, ठीक कौन दिन, उन्होंने गीता गाया इत्यादि बातों को जानने की कोई आवश्यकता नहीं। गीता में जो कर्म

और प्रेम सम्बन्धी सुन्दर शिक्षा है, साग्रह उसीका अनुसरण करना तुम्हारा कर्तव्य है। इसके सम्बन्ध में अथवा उसके प्रणेता के सम्बन्ध में विशेष विवरण प्राप्त करना केवल पण्डितों का मनोरञ्जन मात्र है। वे जो चाहते हैं, उन्हें करने दो। उनके पण्डिताई के चंड तर्क सुनकर कहो "शान्ति-शान्ति" और अपने आम खाने लगो।

दूसरे, गुरु को निष्पाप होना अत्यन्त आवश्यकीय है। बहुधा प्रश्न होता है कि हमारा गुरु के चरित्र और कर्म विवेचना से क्या लाभ हो सकता है? हमें तो बस उसके आदेशानुसार चलना है। पर यह बात ठीक नहीं। गति-विज्ञान, रसायन विज्ञान या और किसी पदार्थ विज्ञान के शिक्षक के सम्बन्ध में हमें यह जानने की आवश्यकता नहीं कि वह कौन और क्या है? क्योंकि उनसे तो हमें केवल बुद्धि-वृद्धि करनी है; किन्तु यदि अध्यात्म-विज्ञान का आचार्य अशुद्ध चित्त है तो धर्म का प्रकाश तो उसे कभी मिलता नहीं। तब अशुद्ध चित्त व्यक्ति धर्म-शिक्षा क्योंकर दे सकता है? अपने लिए अध्यात्मिक सत्य की उपलब्धि करना और उसे दूसरे व्यक्ति में संचार करने में आवश्यकता है, हृदय और मन की पवित्रता की। जब तक चित्त शुद्ध नहीं होता तब तक भगवद्दर्शन तथा ईश्वर की सत्ता का ज्ञान असम्भव है। अस्तु यह आवश्यक है कि गुरु का आचरण संसार के प्रति देखा जाय और फिर वह क्या कहता है, यह भी देखना चाहिए।

गुरु को सम्पूर्ण रूप से शुद्ध-चित्त होना आवश्यक है तभी उसके शब्दों का महत्त्व होता है; क्योंकि तभी वह स्वाभाविक शक्तिसंचारक हो सकता है। जब अपने ही में शक्ति नहीं तो वह सञ्चार क्या करेगा? गुरु के हृदय में इस प्रकार का प्रबल स्पन्दन विशेष होना चाहिए कि वह समवेदना वशीभूत शिष्य में सञ्चारित हो जाय। गुरु का वास्तविक कर्त्तव्य यही है कि वह शक्ति सञ्चार करे, केवल बुद्धि-शक्ति अथवा और किसी शक्ति को उत्तेजित करना उसका काम नहीं। यह स्पष्ट है कि गुरु से शिष्य को यथार्थ शक्ति मिले। अस्तु गुरु का शुद्ध चित्त होना अत्यन्त आवश्यक है।

तीसरे, यह देखना भी आवश्यक है कि गुरु का उद्देश्य क्या है? गुरु से तात्पर्य है कि जो अर्थ, नाम, यश किसी भी स्वार्थ सिद्धि के लिए धर्म शिक्षादान न करता हो वरन् सारी मनुष्य जाति के प्रेमवश ही उसका काम होता हो। अध्यात्मिक शक्ति शुद्ध प्रेमसूत्र द्वारा ही सञ्चारित हो सकती है। किसी प्रकार का स्वार्थपूर्ण भाव जैसे लाभ या यश की इच्छा एक क्षण में इस प्रेमसूत्र को तोड़ फेंकता है। भगवान् प्रेम स्वरूप हैं और जो लोग भगवान को प्रेम-रूप समझते हैं वही मनुष्य को ईश्वर का शुद्ध तत्त्व समझा सकते हैं।

यदि देखो कि गुरु में यह सब गुण विद्यमान हैं तो आशंका करने का अवसर नहीं। यदि ये गुण उसमें नहीं तो उसकी शिक्षा संकट शून्य न समझो; क्योंकि यदि वह हृदय में साधुभाव

सञ्चारित न कर सका तो शायद असाधुभाव ही सञ्चारित कर दे। इस सङ्कट से हमें सदैव सावधान रहने की आवश्यकता है। "जो विद्वान् है, निष्पाप है, कामगंधहीन है, जो श्रेष्ठ ब्रह्मवित् है वही स्वाभाविक सद्‌गुरु है।" "श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो यो ब्रह्मवित्तम:" (विवेक चूड़ामणि श्लोक ३३)।

जितना बतलाया गया है उससे स्पष्ट है कि धर्म में अनुराग करने, धर्म समझने और इस जीवनधारा को परिणत करने में 'ऐरा-गैरा' से काम नहीं चलता। शेक्सिपयर ने लिखा है।

'And this our life exempt from public haunt, Finds tougues in trees, books in the running books, Sermons in Stones and good in every thing.' 'As you like it' Act 11 Sc 1.

अर्थात् पर्वतों से धर्मोपदेश, कलकल नादिनी नदी से ग्रन्थ-पाठ सब वस्तुओं से हमें शुभ प्राप्त होता है! परन्तु यह केवल अलङ्कारिक वर्णन है; क्योंकि जिसके हृदय में धर्मबीज अपरिस्फुट भाव से छिपा नहीं है उसे कोई भी धर्मतत्वज्ञान नहीं सिखा सकता। पर्वत, नदी आदि किसे शिक्षा दे सकते हैं ?, जिसके अन्दर पवित्र कमल निकल चुका हो ऐसी आत्मा को। और जिस प्रकाश से यह हृदय कमल खिलता है वह है ज्ञान प्रकाश उसी ब्रह्मविद सद्‌गरु का। जब इस प्रकाश से कमल खिल उठता है तब पर्वत, नदी, तारा, सूर्य, चन्द्र अथवा इस ब्रह्म-मय विश्व में जो कुछ है, सबसे वह शिक्षा ले सकता है; किन्तु जिनका हृदय

कमल अभी नहीं खिला है, वह इस सबको पर्वत इत्यादि के अतिरिक्त और किसी रूप में नहीं देखता ! अन्धा यदि चित्रशाला में जाय तो क्या देखेगा ? पहले उसे आखें दो, तब वह वहाँ की सारी वस्तुओं से शिक्षा ग्रहण कर सकेगा।

धर्म शिक्षार्थी की आँखें गुरु ही खोल सकता है। अस्तु अपने पूर्व पुरुषों से जो उनका सम्बन्ध है, गुरु से भी ठीक वही सम्बन्ध होता है। गुरु के प्रति विना विश्वास के, विना विनीत नम्र आचरण के, विना उसकी आज्ञाकारिता के और विना उसके प्रति गम्भीर श्रद्धा के हमारे हृदय में धर्म प्रकाश हो नहीं सकता। और यह भी विशेष विचारणीय विषय है। जिन देशों में गुरु शिष्य का ऐसा सम्बन्ध है, केवल उन्हीं देशों में असाधारण धर्मवीर पैदा हुए हैं ; और जिन देशों में यह गुरु शिष्य सम्बन्ध नहीं है—जहाँ गुरु केवल वक्ता मात्र है, अपने लाभ पर ही दृष्टि रखता है और शिष्य केवल उसके वचन ध्यान धरता है और अन्त में दोनों अपने अपने रास्ते जाते हैं, वह सब देश धर्मवीरों से से खाली हैं। न कोई शक्ति सञ्चारक है न कोई शक्ति ग्रहण करनेवाला। ऐसे सभी देशों में धर्म व्यवसाय मात्र है। उन्हें प्रतीत होता है कि धर्म खरीदने बेचने की कोई वस्तु है। ईश्वरेच्छा से यदि धर्म इतना सुलभ होता तो बड़ा सुख था ; किन्तु दुर्भाग्य अथवा सौभाग्य से ऐसा है नहीं।

धर्म—सर्वोच्चज्ञान स्वरूप जो धर्म है—वह धनद्वारा विनिमय वस्तु नहीं, ग्रंथों से भी यह नहीं मिल जाता। सारा संसार घूमो,

हिमालय, आल्प्स, काकेशास इत्यादि सब देख आओ, समुद्र का अतल तल ढूँढ़ आओ, तिब्बत के चारों कोनो में अथवा मरुस्थल में मारे-मारे फिर आओ ; परन्तु जब तक तुम्हारा हृदय इसे ग्रहण करने के उपयुक्त नहीं, जब तक तुम्हें गुरु नहीं मिलता, तब तक कहीं भी तुम उसे खोज कर नहीं पा सकते। विधाता द्वारा निर्दिष्ट गुरु जभी तुम्हें मिलेगा त्योंहीं तुम्हें विश्वास और सरलता से उसके प्रति हृदय खोल देना चाहिये। उसको साक्षात् ईश्वर रूप देखो। जो इस प्रकार प्रेम और श्रद्धा सम्पन्न होकर सत्य का अनुसन्धान करता है उसे सत्य के भगवान 'सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्' प्रकाश देते हैं।

अवतार

जहाँ उसका नाम लिया जाय वही स्थान पवित्र हो जाता है, फिर जो व्यक्ति उसका नामोच्चारण करता है, वह कितना पवित्र होगा यह ध्यान देने योग्य है, तो ऐसी पवित्र आत्माओं के पास, जिन्हें अध्यात्मिक शक्ति प्राप्त हो चुकी है, हमें अत्यन्त भक्ति भावना से पहुँचना चाहिए। ऐसे श्रेष्ठतम धर्माचार्यों की संख्या इस संसार में कम तो अवश्य है; परन्तु उनसे यह संसार शून्य भी नहीं। जब यह जगत् ऐसे आचार्यों से शून्य हो, तो समझ लेना चाहिए कि संसार एक नरक कुण्ड हो गया है जो विनाश की ओर द्रुतगति से अग्रसर हो रहा है। ए लोग इस मानव जीवन-रूपी उद्यान के सुन्दर पुष्प होते हैं और "अहेतुक दयासिन्धु" (विवेक चूड़ामणि ३३) होते हैं। श्रीकृष्ण ने भागवत में कहा है "अचार्यं मां विजानीयात्" अर्थात् 'मुझे आचार्य समझो'।

साधारण गुरु श्रेणी से भी ऊँची एक और श्रेणी के गुरु होते हैं—ईश्वर के अवतार। ये तो स्पर्श द्वारा, यही नहीं केवल इच्छा मात्र द्वारा, दूसरे में भगवद्भाव सञ्चारित कर सकते हैं। उनकी इच्छा मात्र से नीचातिनीच दुराचारी भी एक क्षण में साधु-स्वरूप हो जाता है। ये सारे गुरुओं के भी गुरु होते हैं—मनुष्य में

ईश्वर की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति रूप हैं। हम सिवाय उनके द्वारा और किसी उपाय से भी भगवान का दर्शन नहीं कर सकते। बिना इनकी उपासना किए हम नहीं रह सकते और इन्हीं की उपासना करने के योग्य है तथा हम वाध्य भी हैं उनकी पूजा करने को।

इस मानवरूपधारी ईश्वर के अतिरिक्त हम और किसी उपाय से भगवान के दर्शन नहीं कर सकते। यदि हम और किसी रूप में उनके दर्शनों की इच्छा करते हैं, हम एक 'किम्भूतकिमाकार' जीव बनाते हैं और विश्वास करते हैं कि वह प्रकृत ईश्वर ही है। एक कथा है—एक अनारी से शिव की मूर्ति बनाने को कहा गया, कई दिन प्रयत्न करने पर उसने एक बन्दर की मूर्ति बनाई। वैसेही जब हम भगवान के निर्गुण पूर्ण स्वरूप की भावना करते हैं, तभी हम असफल हो जाते हैं; क्योंकि जब तक हम मनुष्य हैं, ईश्वर को हम मनुष्य से उच्चतर होने के अतिरिक्त और किसी भावना से नहीं देख सकते। अवश्य ही वह समय आयेगा जब हम मनुष्य प्रकृति पार करके उसके स्वरूप के समझने में समर्थ होंगे। परन्तु जब तक मनुष्य रहेंगे तब तक हम उसे मनुष्य में अथवा मानव-रूप में ही पूज सकते हैं—चाहे जो कहो, चाहे जितनी चेष्टा करो, भगवान को मनुष्य-रूप के अतिरिक्त और किसी रूप में समझ नहीं सकते। ईश्वर के सम्बन्ध में संसार की सारी वस्तुओं के सम्बन्ध में आप खूब तर्कयुक्त वार्ता कर सकते हैं, बड़े युक्तिवादी बन सकते हैं और साबित कर सकते हैं कि ईश्वर का मानव रूप धारण करना

भ्रमात्मक मात्र है और इसके ऐसे प्रमाण दे सकते हैं जिनसे सम्पूर्ण सन्तुष्टि प्राप्ति हो जाय; परन्तु सहज बुद्धि से एक बार विचार कर देखिए। इस प्रकार की अद्भुत विचार बुद्धि से क्या लाभ है? कुछ नहीं—शून्य और केवल वाक्याडम्बर मात्र। अब कभी यदि आपको अवतार के विरुद्ध, उसकी पूजा के विरुद्ध यदि कोई महायुक्ति से तर्क करता हुआ मिले तो उसे पकड़कर पूछो कि 'भाई' तुम्हारी ईश्वर के प्रति क्या धारणा है? सर्व शक्तिमान, जगत् पिता इत्यादि शब्दों के क्या अर्थ हैं। वह इसका ऐसा कोई अर्थ नहीं बतला सकता जिससे ईश्वर का मानवीय प्रकृति से कोई सम्बन्ध न हो। इस विषय में वह रास्ता चलनेवाले एक अपढ़ से अधिक कुछ नहीं जानता। हाँ, साधारण पथिक और इस पंडित में यह अन्तर अवश्य है कि पथिक शान्ति प्रकृति का है और संसार की शान्ति भंग भी नहीं करता और यह लम्बा-चौड़ा-वाक्य-व्ययकारी व्यक्ति समाज में अशान्ति और दुःख भर देता है। वास्तव में प्रत्याचानुभूति के अतिरिक्त धर्म, धर्म कहलाने योग्य नहीं। अतएव हमें प्रत्याचानुभूति और व्यर्थ-वाक्य-व्यय में पृथ्वी आकाश का अन्तर मालूम पड़ता है। आत्मा के गम्भीरतम प्रदेश में प्रवेश करके जो हम अनुभव करते हैं, वह है प्रत्याचानुभूति; किन्तु इस विषय का सहज ज्ञान जितना दुर्लभ है और किसी विषय का उतना नहीं।

हमारी प्रकृति वर्तमान समय में जैसी है, उससे हम बाध्य हैं कि भगवान् को हम मनुष्यरूप में देखें। उदाहरणतः यदि भैंस

ईश्वर की पूजा करने की इच्छा करे तो उसके स्वभावानुसार वह ईश्वर को एक वड़ी भैंस के रूप में देखेगी। यदि मछली भी भगवान की आराधना करने की इच्छा करे तो उसे ईश्वर को एक 'वृहत्मत्स्य' रूप देखना पड़ेगा और मनुष्य को भगवान को मनुष्य रूप ही मानना होगा। यह न समझियेगा कि यह सारी धारणाएँ विकृत-कल्पना के कारण होती हैं। मनुष्य, भैंस, मछली यह सब एक वर्तन के समान ह। भगवत्समुद्र में यह सब अपनी जलधारणशक्ति तथा आकृति के अनुसार अपने को भरते हैं। मनुष्य में जल मनुष्य का रूप धारण करता है, भैंस में भैंस का स्वरूप तथा मछली में मछली का रूप यद्यपि इन सब वर्तनों में एक ही भगवतसागर का जल भरा हुआ है। मनुष्य उसे मनुष्य रूप देखेगा और और जीव यदि भगवत्सम्वन्धी कोई ज्ञान प्राप्त करता है तो वह अपनी ही धारणा के अनुसार अपनी जाति के जीव के समान ईश्वर को देखेगा। अतएव हम भगवान को मनुष्य रूप के अतिरिक्त और किसी प्रकार नहीं देख सकते। अस्तु, हम उसकी मनुष्यरूप में उपासना करेंगे और कोई उपाय नहीं है।

भगवान की मनुष्य रूप में दो प्रकार के मनुष्य उपासना नहीं करते हैं। पहले तो नर पशु हैं, जिन्हें किसी प्रकार का भी धर्मज्ञान नहीं; दूसरे वे परमहंस जिन्होंने सारी मानवीय दुर्वलताओं पर विजय प्राप्त करके मनुष्य-प्रकृति की सीमा पार कर चुके हैं और सारी प्रकृति जिन्हें आत्मस्वरूप प्रतीत होती

है, वही केवल भगवान की ईश्वर स्वरूप में उपासना कर सकते हैं। अन्य स्थलों के समान यहाँ भी दो अत्यन्त विरोधी भाव एकरूप होते पाए जाते हैं। अतिशय अज्ञानी और परमज्ञानी कोई भी उपासना नहीं करते, नरपशु तो अज्ञानवश उपासना नहीं करते और जीवनमुक्त पुरुष, सदैव ही अपनी आत्मा में परमात्मा का अनुभव करते हुए उसको स्वतंत्र करने की आवश्यकता नहीं देखता। इन दोनों विरोधी (चूड़ान्त) भावों के मध्यस्थित मनुष्य यदि कहे कि मैं ईश्वर की मनुष्य रूप में उपासना करने की इच्छा नहीं करता तो ऐसे मनुष्य का विशेष यत्न से तत्वावधान करना आवश्यक है। उसके लिये कठोरतर भाषा का प्रयोग न करने पर भी कहना पड़ता है कि वह प्रलापभाषी है। उसका धर्म विकृत मस्तिष्क तथा मस्तिष्क-विहीन लोगों के लिए ही है।

भगवान मनुष्य की दुर्बलतओं को समझते है और मनुष्य के हित के लिए अवतरित होते हैं। "यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत, अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानम् सृजाम्यहम्। परित्राणाय साधूनाम्, विनाशायच दुष्कृताम्, धर्मसंस्थापनार्थाय, सम्भवामि युगे युगे ॥" भगवद्गीता-चतुर्थ अध्याय। अर्थात् हे भारत ! जब जब धर्म की क्षति और अधर्म की उन्नति होती है तब तब मै अपने को सृजन करता हूं। साधुओं की रक्षा, पापियों का दुःष्कृतिनाश और धर्म को स्थापित करने के लिए मै समय समय पर अवतार धारण करताहूं"।

"अव जानन्ति मां मूढ़ा मानुषी तनुमाश्रितम्, परभावमजानन्तो, मम भूतमहेश्वरम्," अर्थात् अज्ञानी लोग मुझे मानुषरूपधारी समझकर और मेरे असली स्वरूप को न जानते हुए मेरा उपहास करते हैं।"

(गीता ९ अध्याय)

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में अवतार के सम्बन्ध में यह सब कुछ कहा है। भगवान् श्री रामकृष्णदेवजी ने कहा है, "जब प्रबल ज्वार भाटा उठता है, तो सारी क्षुद्र नदियाँ किनारों तक आप ही आप भर जाती है। उसी प्रकार जब अवतार होता है, तो संसार में एक महान अध्यात्मिक तरंग उठती है और वायु-मण्डल भी धर्मभाव से ओत-प्रोत हो जाता है"।

मन्त्र

किन्तु अब हम इन महापुरुषों—इन अवतारों के सम्बन्ध में अधिक कुछ न कहेंगे। इस समय तो हमें सिद्ध गुरुओं के विषय की आलोचना करनी है। वे सचराचर मन्त्रद्वारा शिष्यों में अध्यात्मिक ज्ञान का बीज बो देते हैं। यह मन्त्र क्या है? भारतीय दर्शन शास्त्र के अनुसार सारा संसार नामरूपात्मक है। मनुष्य के इस क्षुद्र ब्रह्माण्ड स्वरूप चित्त में ऐसी कोई तरंग नहीं उठती जो नाम रुपात्मक न हो। यदि यह सत्य है कि प्रकृति सर्वत्र ही एक नियम से निर्मित है तो हमें कहना पड़ेगा कि इस सब ब्रह्माण्ड का नियम भी नाम रूपात्मक है। "यथा सोम्य एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्" (छान्दोग्य उपनिषत्) अर्थात् जिस प्रकार एक मिट्टी के पिण्ड को जानने पर सारी मिट्टी की चीजें जानी जाती हैं, उसी प्रकार एक देह पिण्ड को जानने पर सारा ब्रह्माण्ड पिण्ड जाना जा सकता है। किसी वस्तु का रूप उसकी बाहिरी खोल के समान है तो नाम उसके अन्दर की गूदी के समान। शरीर तो रूप के समान है और मन अथवा अन्तःकरण—नाम है और वाक् शक्ति संयुक्त प्राणियों के नाम के साथ उनके वाचक शब्दों का अभेद्य सम्बन्ध है। मनुष्य के अन्दर

चित्त अथवा महत् में जो चिन्ता तरङ्गें उठती हैं वे पहले शब्द और फिर उससे स्थूलतर आकार को धारण करती हैं।

इस बड़े ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा, हिरण्य गर्भ अथवा महत् ने पहले अपना नाम फिर अपना रूप अर्थात् परिदृश्यमान जगद्रूप प्रकट किया। यही व्यक्त, इन्द्रिय ग्राह्य जगत् रूप है जिसके पीछे अनन्त अव्यक्त 'स्फोट' रहता है। स्फोट—सारे जगत की अभि-व्यक्ति कारण—शब्द ब्रह्म है। सारे नाम अर्थात् भावों का सदैव संगी उपादान स्वरूप यह अनन्त स्फोट वह शक्ति है जिसके द्वारा भगवान इस संसार की सृष्टि करते हैं! यही नहीं—भगवान पहले अपने को स्फोट रूप में परिणत करके फिर अपेक्षा कृत स्थूल होकर इस परिदृश्यमान जगत का रूप धारण करते हैं। इस स्फोट के लिये केवल एक वाचक शब्द है और वह है ॐ। जैसे हम किसी प्रकार के विश्लेषण से भी भाव को शब्द से अलग नहीं कर सकते वैसे ही इस ॐ में और नित्य स्फोट में अनन्त सम्बन्ध है। अतएव अनायास ही मन में आजाता है कि सब नाम रूप को पैदा करनेवाले 'ओङ्कार' पवित्रतम शब्द ही से यह जगत सृष्टि हुई है। पर यदि यह कहा जाय कि शब्द और भाव में अनन्त सम्बन्ध होते हुए भी एक भाव के अनेक वाचक शब्द हो सकते हैं तो सारे जगत की अभिव्यक्ति का कारण स्वरूप भाव का वाचक शब्द एक ओङ्कार ही नहीं हो सकता। इसका उत्तर हम यह देंगे कि ओङ्कार ही इस प्रकार का सर्वभावव्यापी एक शब्द है—और कोई शब्द इसके समान नहीं है। स्फोट ही

सब भावों का उपादान है और इसमें कोई विकसित भाव नहीं। अर्थात् शब्दों में जो विभिन्न भावो का भेद है, उसे यदि दूर कर दिया जाय तो शेष स्फोट ही रह जाता है। इसलिये इस स्फोट को 'नादब्रह्म' कहा गया है। और जब किसी वाचक शब्द द्वारा इस अव्यक्त स्फोट को व्यक्त करने से इसका 'स्फोटत्व' जाता रहता है तो हमें ऐसा शब्द खोजना चाहिए, जिससे यह स्फोट कम से कम घटे और अधिक से अधिक इसका वास्तविक स्वरूप प्रकाशित हो। वही शब्द सर्वापेक्षा स्फोट का वाचक हो सकता है। ओङ्कार, केवल ओङ्कार, ही वह शब्द है। क्योंकि अ, उ, म् यह तीन अक्षर एकत्र करने से 'ओऽम्' ऐसे उच्चारित होता है कि सर्व प्रकार के शब्दों का यही साधारण वाचक शब्द हो सकता है। 'अ' सारे शब्दों में सब की अपेक्षा विशेष भावापन्न कम होता है। इसी से भगवान कृष्ण ने गीता में कहा है "अक्षराणामकारोस्मि" अर्थात् अक्षरों में मैं 'अ' हूँ और सब स्पर्शोच्चारित शब्द मुँह में जिह्वा के मूल भाग से लेकर ओठों तक के स्पर्श से उच्चारित होते हैं। 'अ' कण्ठ से उच्चारित होता है और म ओठों से। कण्ठ से उठकर जो शक्ति ओठों तक लहराती है, उसी के द्वारा 'उ' का उच्चारण होता है। स्वभाविक रूप से उच्चारण करने पर यही 'ओम्' सारे शब्दोच्चारण-व्यापार का सूचक है और किसी शब्द मे ऐसीशक्ति नहीं है। अस्तु-यही शब्द स्फोट का ठीक उपयोगी वाचक है और यही स्फोट ओङ्कार का स्वाभाविक वाच्य है। चूंकि वाच्य और वाचक अलग अलग नहीं। इसलिये यह

ओ३म् और स्फोट भी एक ही है। इसलिये यही स्फोट व्यक्ति जगत का सूक्ष्मतमांश होने से ईश्वर से अत्यन्त निकटवर्ती है एवं ईश्वरीय ज्ञान का प्रथम प्रकाश है। इसलिये 'ओङ्कार' ही ईश्वर प्रकृति वाचक है। जैसे उसी एकमात्र अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्म को अपूर्ण जीवात्माएँ विशेष विशेष भाव तथा विशेष गुण युक्त समझते हैं, उसी प्रकार उसके शरीर के समान इस जगत को भी साधकगण मनोभावानुकूल भिन्न-भिन्न रूप में देखते हैं।

उपासक के मन में जिस समय जो तत्व प्रबल होता है, उस समय उसके हृदय में वैसे ही भाव उत्पन्न होते हैं। इसका फल यह होता है कि एक ही ब्रह्म भिन्न-भिन्न गुणों से संयुक्त दिखाई पड़ता है और वही एक जगत भिन्न-भिन्न रूप में प्रतिभासित होता है। अपेक्षाकृत अल्प विशेष भावापन्न सार्वभौमिक वाचक 'ओङ्कार' जैसे वाच्य वाचक के घनिष्ट सम्बन्ध में सम्बद्ध है, उसी प्रकार का वाच्य-वाचक का अविच्छिन्न सम्बन्ध ईश्वर और जगत के भिन्न-भिन्न भावों में विद्यमान है। और इन सबके लिये विशेष-विशेष वाचक शब्दों के होने की आवश्यकता है। महापुरुषों की गम्भीर अध्यात्मिक अनुभूति से उठकर यही वाचक-शब्द-समूह भगवान और जगत के विशेष-विशेष भावों को प्रकाशित करते हैं और जैसे 'ओङ्कार' अखण्ड ब्रह्म वाचक है वैसे ही अन्यान्य मन्त्र उसी परम पुरुष के खण्ड भावों के वाचक हैं। यह सभी भगवत्-ध्यान और प्रकृति ज्ञान लाभ करने में सहायक होते हैं।

प्रतीक और प्रतिमा की उपासना

अब हम प्रतीक की उपासना और प्रतिमा के विषय की समालोचना करेंगे। प्रतीक का अर्थ है उन सब वस्तुओं से जिनमें ब्रह्म परिवर्तित मान कर उपासना के योग्य बनाते हैं, तो प्रतीक मे भगवदुपासना का क्या अर्थ है? भगवान रमानुजाचार्य ने कहा है, "अब्रह्मणि ब्रह्मदृष्ट्याऽनु-सधानम्"। ब्रह्म-सूत्र ४ अध्याय) अर्थात् 'जो ब्रह्म है उसे ब्रह्ममानकर ब्रह्म का अनु-संधान करना प्रतीक की उपासना करना कहलाता है। शंङ्कराचार्य ने भी कहा है, "मन को ब्रह्मरूप में उपासना करना अध्यात्मिक कहलाता है; आकाश को ब्रह्म मानलेना आधिदैविक है (मन आध्यात्मिक और आकाश वाह्य प्रतीक—इन दोनो की उपासना ब्रह्म प्राप्ति के लिए करनी होगी)।" इसी तरह, आदित्य ही ब्रह्म है, यही आदेश है" "जो नाम को ब्रह्म रूप पूजते हैं" इत्यादि स्थलों में प्रतीक की उपासना के सम्बन्ध में शंशाय हो जाता है"। प्रतीक शब्द का अर्थ है "उसकी ओर जाना" और प्रतीकोपसना का अर्थ है ब्रह्म को किसी वस्तु में परवर्तित मान कर उसकी पूजा जो एकांश मे अथवा अधिकांश मे ब्रह्म मे सन्निहित है परन्तु स्वयं ब्रह्म नहीं। श्रुतियों मे वर्णित प्रतीकों के अतिरिक्त पुराण और तंत्र

ग्रन्थों मे अनेकों प्रतीकों के वर्णन हैं। सारी पित्रोपासना और और देव उपासना इसी प्रतीको पासना मे अन्तरभुक्त हो सकती है।

बात यह है कि केवल ईश्वर की उपासना का ही नाम भक्ति है। देव, पितृ अथवा अन्य कोई उपासना भक्ति-शब्द वाच्य नहीं हो सकती। भिन्न उपासनाएँ जो कर्मकाण्ड में वर्णित है उपासक को केवल कैसा भी स्वर्ग भोग रूपी विशेष फल की दाता हो सकती हैं किन्तु उनसे भक्ति का उदय नहीं होता, उनसे मुक्ति भी नही प्राप्त होती। इस लिये एक बात अवश्य ध्यान मे रखने की आवश्यकता है। दार्शनिक दृष्टि से परब्रह्म के अतिरिक्त जगत के कारण की कोई और उसकी उच्चतर धारणा हो ही नहीं सकती। पर प्रतीक का उपासक कहीं कहीं इसी प्रतीक को ब्रह्म का स्थान दे देता है और उसको अपने आत्मस्वरूप पूजता है। तभी उपासक लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाता है क्योंकि स्वभावतः कोई भी प्रतिमा उपासक की आत्मा नहीं हो सकती। परन्तु जहां ब्रह्म ही उपास्य है और प्रतिमा उसकी केवल प्रतनिधि स्वरूप हैं अथवा उसके लिए उद्दीपन मात्र है अर्थात् जहां प्रतिमा की सहायता से सर्वव्यापी ब्रह्म की उपासना की जाती है प्रतिमा को प्रतिमा ही न समझकर जगत का कारण रूप माना जाता है, वंहां इस प्रकार की उपासना की विशेष उपकारिता होती है केवल यही नहीं, प्रवर्तकों के लिए अनिवार्य रूप से इसकी उपयोगिता है। अस्तु जब हम किसी देवता अथवा अन्य प्राणी को उसी देवता

तथा प्राणी के रूप में पूजते है तो इस प्रकार की उपासना केवल 'एक धर्म कही जा सकती है और यदि विद्या भी मानी जाय तो उपासक को उस विद्या विशेष का फल मिल सकता है, किन्तु जब कोई देवता अथवा अन्य प्राणी ब्रह्मरूप में देखा और पूजा जाता है तो यह ईश्वरोपासना के समान फल देनेवाला हो जाता है। इसीसे समझ में आजाता है कि अनेक स्थलों पर, श्रुतियों, स्मृतियों आदि सब में, किसी देवता, महापुरुष अथवा अन्य अलौकिक पुरुष का देवत्व, पुरुषत्व इत्यादि भूलकर उनको ब्रह्मरूप में उपासना करना कहा है। अद्वैतवादी कहते हैं, "नाम और रूप अलग कर देने पर क्या प्रत्येक वस्तु ब्रह्म नहीं होती ?" विशिष्टाद्वैतवादी कहते हैं "वही प्रभू क्या सबकी अन्तरात्मा नहीं होता ?" शङ्कराचार्य ने ब्रह्म सूत्र भाष्य में कहा है "फलमादित्याद्युपासनेषु ब्रह्मैव सर्वाध्यक्षत्वात्" और "ईदृशम् चात्र ब्रह्मणः उपास्यत्वं यतः प्रतीकेषु तद्दृष्ट्याध्यारोपणं प्रतिमादिषु इव विष्णुदीनां" अर्थात् "आदित्य आदि की उपासना का फल ब्रह्म ही देता है। क्योंकि वही सर्वाध्यक्ष है।" "जैसे प्रतिमा में विष्णु आदि मान लिये जाते हैं उसी प्रकार प्रतीक में ब्रह्म दृष्टि भी आरोपित होती है। अस्तु—यहाँ ब्रह्म ही की उपासना प्रतिमा द्वारा समझनी चाहिए।

प्रतीक के सम्बन्ध में जो सब बातें कही गई हैं प्रतिमा के सम्बन्ध में भी वे सब लागू हैं अर्थात् यदि प्रतिमा किसी देवता अथवा साधु की द्योतक है तो उसकी उपासना भक्ति नहीं कही जा सकती और न इससे मुक्ति लाभ ही हो सकता है। किन्तु यदि

वह प्रतिमा उसी एक ईश्वर की सूचक है तो उसकी उपासना से भक्ति और मुक्ति दोनो मिलती है। संसार के प्रधान-प्रधान धर्मों में वेदान्त, बौद्ध धर्म, और ईसाई धर्म के कोई-कोई सम्प्रदाय प्रतिमा पूजा का कुछ भी विरोध नहीं करते वरन् प्रतिमा के साथ सद्व्यवहार करते हैं केवल मुसलमान और प्रोटेस्टैंट धर्म इस सहायता की जरूरत नहीं स्वीकार करते तथापि मुसलमान लोग अपने साधुओं और आत्म बलिदान करनेवाले व्यक्तियों की समाधियों को प्रतिमा के समान ही पूजते हैं। प्रोटेस्टैंट सम्प्रदाय में बाह्य सहायता की आवश्यकता न रखने के कारण वह प्रतिदिन क्रमशः उच्च अध्यात्मिक भावों से विच्युत हो रहा है यहाँ तक कि आज कल प्रोटेस्टैन्ट सम्प्रदाय और केवल नीति मात्रवादी आगस्टी कौन्टी के शिष्यों में कोई भेद भाव नहीं रहा और ईसाई और इस्लाम धर्म में प्रतिमा पूजा का जो कुछ अवशेष है वह केवल यह है कि वे केवल प्रतीक अथवा प्रतिमा की ही उपासना करते हैं ब्रह्म प्राप्ति की सहायतार्थ नहीं अस्तु यह कर्म-कांड के अन्तर्गत ही है। अतएव इससे भक्ति अथवा मुक्ति की कोई प्राप्ति नहीं। इस प्रकार की प्रतिमा पूजा में आत्मा और ईश्वर को अन्य वस्तुओं के लिये आत्म समर्पण करना होता है और इसलिये प्रतिमा, समाधि, मन्दिर इत्यादि का इस प्रकार व्यवहार करना वास्तव में मूर्ति पूजा कहलाता है। किन्तु इससे भी कोई पाप कर्म अथवा अन्याय नहीं होता। यह तो केवल कर्म मात्र है—उपासक को इस का फल अवश्य मिलता है।

इष्ट निष्ठा

अब हम इष्ट निष्ठा के सम्बन्ध में आलोचना करेंगे। जो भक्त बनना चाहता है उसे यह याद रखना आवश्यक है कि जितने मत हैं उतने ही पथ—उसे यह जानने की आवश्यकता है कि विभिन्न सम्प्रदाय उस एक ही भगवान की महिमा के भिन्न-भिन्न विकास के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

"नाम्ना मकारि बहुधा निज सर्व शक्ति
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।
एतादृशी तव कृपा भगवन् ममापि
दुर्दैवमीदृशमिह जने नानुरागः" (श्रीकृष्ण चैतन्य)

अर्थात् संसार तुम्हें कितने नामों से पुकारता है, संसार तुम्हें कितने ही नामों में बाँट डालता है। किन्तु इन सभी नामों में तुम्हारी पूर्ण शक्ति विद्यमान है। जो उपासक जिस भाव से तुम्हें प्रेम करता है उसके प्रति तुम उसी नाम में प्रकाशित मिलते हो। तुम्हारे प्रति आत्मा का एकान्त अनुराग हो जाने पर तुम्हारे मिलने का भी कोई निर्दिष्ट समय नहीं है तुम शीघ्राति-शीघ्र भी मिल जाते हो। तुम्हारे निकट इतनी सरलता से पहुँचा

जा सकता है। किन्तु यह मेरा ही दुर्भाग्य है कि तुम्हारे प्रति अनुराग नहीं उत्पन्न हुआ। यही नहीं, भक्तों को उचित है कि विभिन्न सम्प्रदायों के प्रतिष्ठाताओं महातेजस्वी ज्योति के सुपुत्रों, के प्रति घृणा न करें, उनकी दोषदृष्टि युक्त समालोचना न करें, यहाँ तक कि दोष दिखलानेवालों की सुनें भी नहीं। ऐसे लोग बिरले ही मिलते हैं जो उदारता सम्पन्न, दूसरे के गुण निरीक्षण में समर्थ और गम्भीर प्रेम सम्पन्न हों। देखने में तो यही आता है कि उदार भावापन्न सम्प्रदाय अपनी सारी प्रेम की गम्भीरता खो देते हैं। और उनके प्रति धर्म एक प्रकार का राजनैतिक सामाजिक समिति के समान सभ्य गणों का कर्त्तव्य मात्र रह जाता है। और अत्यन्त संकीर्ण सम्प्रदायिक गण अपने इष्ट के प्रति भक्ति सम्पन्न तो खूब होते हैं; किन्तु उनकी यह भक्ति दूसरे सारे सम्प्रदायों के ऊपर घृणा भाव से प्रेरित होती है। ईश्वरेच्छा से यदि संसार परम उदार और गम्भीर प्रेम सम्पन्न लोगों से परिपूर्ण होता तो बड़ी ही अच्छी बात होती। किन्तु इस प्रकार के महानुभावों की अत्यन्त कमी है। और वह भी यदाकदा जन्म लेते हैं। तथापि हम जानते हैं,—संसार के अनेकों लोगों को इस प्रकार की गम्भीरता और उदारता का अपूर्व सम्मिलन रूप आदर्श सिखाना सम्भव है, और इसका उपाय यही इष्टनिष्ठा है। सारे धर्मों के सब सम्प्रदाय मनुष्य को केवल एक ही आदर्श दिखलाते हैं, किन्तु सनातन वेदान्तिक धर्म ने भगवान के उसी मन्दिर के अन्तर देश में प्रवेश करने के

अनन्त द्वार खोल दिये हैं। और मनुष्य के सामने अगण्य आदेशों की स्थापना की है। वे आदर्श उसी अनन्त स्वरूप परमात्मा के अलग-अलग विकास हैं। "ममैवांशो जीवलोके अ० १५ श्लोक ७ गीता" परम करुणा के वशीभूत हो वेदान्त मुमुक्षु नर-नारियों को अतीत और वर्तमान महिमामय ईश्वर ने मानवीय अवतारों द्वारा मनुष्य जीवन की वास्तविक घटनावली रूपी कठिन पहाड़ियों को काटकर विभिन्न पथ दिखला दिये हैं। और हाथ बढ़ाकर सबको—यहाँ तक कि दूसरी जाति के लोगों को भी सत्य और आनन्द का अथाह समुद्र दिखला दिया है। जहाँ मनुष्य की आत्मा माया जाल से मुक्त होकर सम्पूर्ण स्वाधीनता और अनन्त आनन्द में मतवाली बन सकती है। अतएव भक्ति-योग भगवत् प्राप्ति के विभिन्न पंथों में किसी को घृणा नहीं करता—तथापि जब तक पौधा छोटा रहता है तब तक उसे चारों ओर आड़ लगाने की आवश्यकता होती है। अपक्व अवस्था में एकबारगी नाना प्रकार के भाव और आदर्श मनुष्य के सम्मुख उपस्थित करने से धर्मरूपी कोमल लता का सूख जाना सम्भव है। बहुत से लोग धर्म के विषय में उदारता के नाम पर बराबर अपने भाव परिवर्तन करते रहते हैं और वृथा ही अपने को हास्यास्पद बनाते हैं। उनके लिये नये-नये विषयों का सुनना एक प्रकार का व्यायाम—एक प्रकार की लता-सी हो जाती है। वह क्षणिक उत्तेजना चाहते हैं। और एक उत्तेजना शांत हो जाने पर दूसरी की आवश्यकता उन्हें प्रतीत होती है। धर्म उनके लिये अफ़ीमची का नशा-सा होता है, बस!

भगवान् श्रीराम कृष्ण ने कहा है, "समुद्र में सीपी होती है, समुद्र तल को छोड़कर वह जल के ऊपर तैरती रहती है। किन्तु स्वाति नक्षत्र का एक बूँद जल मुँह में पड़ते ही उसका मुह वन्द हो जाता है और वह जल के नीचे समुद्र तल में पहुँच जाती है और फिर ऊपर नहीं आती। तत्व पिपासु विश्वासी साधक भी इसी प्रकार का होता है। गुरु-मंत्र रूपी एक बूँद जल पीकर वह साधना के अगाध समुद्र में डूब जाता है, फिर वह इधर-उधर नहीं देखता।"

इस उदाहरण में इष्ट-निष्ठा के भाव को इस प्रकार की हृदय-स्पर्शी कवित्व भाषा में प्रस्फुटित किया गया है। जैसा अन्यत्र नहीं मिलता। प्रवर्तक इस एक निष्ठा के विना उन्नति नहीं कर सकता, हनुमान के समान उसे जानना चाहिए, "श्रीनाथे जानकी-नाथे अभेदः परमात्मनि, तथापि मम सर्वसो रामः कमल लोचनः," अर्थात् "यद्यपि लक्ष्मीपति और सीतापति के परमात्मा रूप अभिन्न हैं, तथापि कमल लोचन राम ही हमारे सब कुछ हैं।" इसी प्रकार महात्मा तुलसीदास ने कहा है, "सबसे बसिये सबसे रसिये सबको लीजिये नाम, हाँजी हाँजी करते रहिये, बैठिये अपने ठाम", अर्थात् "सबके साथ वैठो सबके साथ आनन्द करो सबका नाम लो, सब की बात स्वीकार करो, किन्तु अपनी भावना में दृढ़ रहो।" जिज्ञासु को भी इसी आचार का अवलम्बन करना उचित है। फिर यदि भक्त साधक निष्कपट भाव से साधना करता है तो गुरु-दत्त इस बीज मंत्र के प्रभाव

से परा-भक्ति और परम ज्ञानरूपी बड़ा भारी वृक्ष उत्पन्न होगा, जिसकी शाखाओं से अनेक अनेक शाखायें निकलकर धर्मरूपी वृहत्क्षेत्र को सम्पूर्ण आच्छादित कर लेंगी, तभी प्रकृत भक्त देखेगा कि उसका इष्ट देवता विभिन्न सम्प्रदायों में भिन्न-भिन्न नाम रूप द्वारा उपासना किया जाता है।

भक्ति के साधन

भक्ति प्राप्ति के उपाय तथा साधनों के सम्बन्ध में रामानुजाचार्यजी अपने वेदान्त भाषा में लिखते है, "विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुद्धर्ष द्वारा भक्ति प्राप्त होती है।" रामानुजीय मतानुसार विवेक का अर्थ है खाद्याखाद्य का विचार। उनके मत से खाद्यपदार्थ की अशुद्धि के तीन कारण हैं—(१) जाति दोष अर्थात् खाद्य सामग्री में जो प्राकृतिक दोष होते हैं जैसे लहसुन, प्याज में स्वभावतः जो अशुचि दोष हैं—(२) आश्रय दोष अर्थात् पतित अथवा अभिशापित व्यक्ति के हाथ से खाने में जो दोष हैं—(३) निमित दोष अर्थात् और किसी अशुद्ध वस्तु का, जैसे बाल, धूलि इत्यादि संस्पर्श के दोष। श्रुतियों में लिखा है कि "आहारशुद्धो सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धो ध्रुवा वृतिः अर्थात् शुद्ध आहार करने से चित्त शुद्ध रहता है और चित्त शुद्ध होने से भगवान का निरन्तर स्मरण किया जा सकता है। रामानुजाचार्य ने छान्दोग्य-उपनिषद से यही वाक्य उद्धृत किया है।

भक्ति मार्गावलम्बियों के मत से यह खाद्याखाद्य विचार चिरकाल से आवश्यकीय माना गया है। अनेक भक्त सम्प्रदायों ने

इस विषय को अत्यन्त अस्वाभाविक-सा बना दिया है अवश्य, किन्तु साथ ही इसमें एक गुरुतर सत्य भी छिपा हुआ है। हमें ध्यान रखना चाहिए कि सांख्यदर्शन के अनुसार जब सत्, रज, तम सब समान रूप में होते हैं तो प्रकृति में और वैषम्यावस्था में जगतरूप में परिणत हो जाते हैं। ये तत्व प्रकृति के गुण तो हैं ही, साथ ही ये उसके उपादान भी हैं। अतएव इन्हीं सब उपादानों से मनुष्य का शरीर निर्मित है। इन नर-देहों में जिनमें सत्व पदार्थ की प्रधानता पाई जाती है उन्हीं में अधिक अध्यात्मिक उन्नति मिलती है। हमारे अहार से हमारे शरीर में जो उपादान उत्पन्न होते हैं उनसे हमारे मानसिक-गठन में विशेष सहायता प्राप्त होती है। इसीलिए हमें खाद्याखाद्य का विशेष विचार रखना होगा; परन्तु अन्यान्य विषयों के समान इस विषय में भी यदि शिष्य कट्टरता करता हो तो उसका दोष आचार्यों पर आरोपित करना नितान्त अनुचित है।

वास्तव में, खाद्याखाद्य का विचार गौण है। इसीको शङ्कराचार्य ने आपने भाष्य के पूर्वोद्धृत वाक्य में अन्यप्रकार से संबोधित किया है। इस वाक्य में 'आहार' शब्द से जो साधारण भोजन का अर्थ निकलता है, शङ्कराचार्य ने उससे विभिन्न अर्थ में उसकी व्याख्या की है। उनके मतानुसार "जो आहृत है वही आहार है।" शब्दादि विषयों का ज्ञान भोग होता है अर्थात् आत्मा के उपभोग के हेतु ये मनुष्य शरीर में 'आहृत' होते हैं। यही विषयानुभूति रूपी ज्ञान की शुद्धि को आहार शुद्धि कहते

हैं। अतएव आहार शुद्धि का अर्थ हो जाता है, आसक्ति, द्वेष, अथवा मोहशून्य विषय-विज्ञान। अस्तु, जितना ही जिसका ज्ञान अथवा 'आहार' शुद्ध होगा उतना ही उसका सत्व अर्थात् अन्तरिन्द्रियाँ शुद्ध होंगी। और सत्वशुद्धि होने से अनन्त पुरुष का यथार्थ ज्ञान तथा अविच्छिन्न स्मृति आएगी। ❀

यह दोनों व्याख्यायें यद्यपि आपस में विरोधी भास होती हैं; किन्तु दोनों ही सत्य और आवश्यक हैं। सूक्ष्म शरीर अथवा मन को संयमित रखना मांस पिण्डमय स्थूल शरीर के संयम से श्रेष्ठतर कार्य अवश्य है; किन्तु सूक्ष्म के संयमित करने से पहले स्थूल का संयमित होना अनिवार्य है। अतएव जिज्ञासु को आहार सम्बन्धी उन सब नियमों का पालन करना आवश्यक है जो उसकी गुरुपरम्परागत हैं; परन्तु वर्तमान समय में ऐसे अनेकों सम्प्रदाय हैं जिन्होंने अहारादि के विचारों को इतना बड़ा बना दिया है, इतने निरर्थक नियमों से बांध दिया है और इस विषय में इतनी कट्टरता दिखलाते हैं मानो धर्म रसोई घर में हैं। कब

❀ आह्रियत इत्याहारः शब्दादि विषय ज्ञान भोक्तुर्भोगायाह्रियते। तस्य विषयोपलब्धिलक्षणस्य विज्ञानस्य शुद्धिराहारशुद्धिः रागद्वेष मोहदोषैरसंसृष्टे विषयविज्ञान मित्यर्थः। तस्यासाहारशुद्धो सत्यां तद्वता-न्तःकरणस्य सत्वस्य शुद्धिर्नैर्मल्यं भवति। सत्वशुद्धो च सत्यां यथा-वगते भूमस्मनि ध्रुवाविच्छिन्न स्मृतिरविस्मरन् भवति।

(छान्दोग्य उपनिषत्सु १ म प्रपाठक शंकर भाष्य)

वह धर्म का महान सत्य समूह रसोई घर से बाहर निकलकर अध्यात्मिकता के सूर्यालोक में उद्भासित होगा, कहा नहीं जा सकता; परन्तु कोई सम्भावना उसके बाहर आने की नहीं दिखलाई देती। इस प्रकार का धर्म एक विशेष प्रकार का जड़वाद ही समझना चाहिए। यह न तो ज्ञान ही है और न भक्ति अथवा कर्म ही। हां—यह एक प्रकार का पागलपन अवश्य है जो इस खाद्याखाद्य विचार को ही जीवन का सार समझते हैं उन्हें ब्रह्मलोक में गति पाने की जगह पागलखाने में उचित स्थान मिलने की अधिक सम्भावना है। अतएव युक्ति युक्त तो यही जान पड़ता है कि खाद्याखाद्य का विचार मन की स्थिरता के लिए विशेष आवश्यक है क्योंकि इसके बिना इस स्थिरता की प्राप्ति नहीं होती।

फिर आता है 'विमोक'। विमोक का अर्थ है 'मन की इन्द्रियविषयाभिमुखी गति को निवारण करके उसे संयमित कर अपनी इच्छा के वश करना—और सारी धर्म साधना की नीव यही है।

तदुपरान्त अभ्यास अर्थात् आत्म संयम तथा आत्म-त्याग का अभ्यास परमात्मा का हम अपने में जिस विचित्र रूप में अनुभव और जिस गम्भीर भाव से सम्भोग प्राप्त कर सकते हैं वह बिना जिज्ञासु के प्राणपण से चेष्टा और प्रबल समय के बिना नहीं हो सकता। "मन जिससे सदा ही उसी ईश्वर के चिन्तन में लगा रहे"। पहले पहले तो यह अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है। किन्तु अध्यवसाय की सहायता से चेष्टा करने पर यह चिन्तन

शक्ति क्रमशः बढ़ जाती है। श्रीकृष्णजी ने गीता में लिखा है 'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येन च गृह्येत' अर्थात् 'हे कौन्तेय! अभ्यास और वैराग्य द्वारा यह पाया जा सकता है'।

इसके बाद आती है 'क्रिया' अर्थात् यज्ञ। पञ्च महायज्ञों का नियमित रूप से अनुष्ठान करना होगा।

'कल्याण' का अर्थ यहाँ है 'पवित्र'। और इस पवित्रता की नीव पर ही भक्ति का प्रासाद सम्पूर्ण निर्भर है। बाहिरी सफाई अथवा खाद्याखाद्य सम्बन्धी विचार दोनों ही सहज हैं! किन्तु बिना अन्तः शुद्धि के ये दोनों निरर्थक हैं। रामानुजाचार्यजी ने अन्तः शुद्धि के उपाय स्वरूप निम्नलिखित गुणों की आवश्यकता बतलाई है (१) सत्य (२) आर्जव (सरलता) (३) दया (निस्वार्थ परोपकार) (४) दान (५) अहिंसा—अर्थात् मनसा वाचा कर्मणा हिंसा न करना और (६) अनभिध्या अर्थात् पराए धन का लोभ, वृथा चिन्ता और दूसरे के अनिष्टाचरण की क्रमागत चिन्ता इत्यादि का परित्याग। इस तालिका में दिए हुए 'अहिंसा' शब्द के विषय में दो चार शब्द कहना आवश्यक प्रतीत होता है। सभी प्राणियों के प्रति हमें इस अहिंस भाव को वर्तना होगा। कोई-कोई ऐसा समझते हैं कि मनुष्य के प्रति अहिंसाभाव का अवलम्बन यथेष्ट होता है और प्राणियों की हिंसा करने मे कोई हानि नहीं। पर वास्तव में इसे अहिंसा नहीं कहते। और कोई जो कुत्ते अथवा बिल्ली पालते है या चिउँटियों को खाना खिलाते है; परन्तु अपने भाई का गला

घोटने मे तनिक भी संकोच नहीं करते, उनके कार्यों को भी अहिंसा संयुक्त नहीं कहा जा सकता। यह भी एक विपेश विचारने योग्य विषय है कि संसार मे जो ऊँचे ऊँचे भाव हैं, वे भी यदि विना देश, काल, पात्र विचारे केवल अन्ध भावना से अपनाए जाते हैं तो वही स्पष्ट दोष हो जाते हैं। कितने ही धर्म सम्प्रदायों के संन्यासी इस लिये स्नान नहीं करते कि कहीं जीव हत्या न हो जाय। किन्तु उनसे उत्पन्न हुए कीटाणुओं द्वारा उन्हीं के कितने भाइयों को अस्वस्थ रहना पड़ता है और कितना दुख भोगना होता है, इस पर उनकी एक दृष्टि भी कभी नहीं पड़ती। पर यह वैदिक धर्मावलम्वी संन्यासी नहीं होते।

यदि देखा जाय कि किसी मनुष्य में ईर्ष्याभाव है ही नहीं, तो स्पष्ट है कि उसमें अहिंसा भाव प्रतिष्ठित है। कोई-कोई सामयिक उत्तेजना के वशीभूत होकर अथवा किसी कुसंस्कार वश या किसी पुरोहित की प्रेरणा से कोई सत्कर्म करते हैं अथवा किसी प्रकार का दान कर सकते हैं; किन्तु उनमें जो यथार्थ संस्कार भर को प्रेम करने वाले हैं, वे किसी के प्रति घृणा भाव नहीं प्रदर्शित करते। संसार में जिन्हें लोकाचार से लोग बड़े वतलाते हैं वहुधा ये वड़े लोग थोड़े से नाम, यश अथवा अर्थ के लिए परस्पर ईर्ष्यान्वित हो जाते हैं। जव तक हृदय में यह ईर्ष्या भाव रहेगा, तव तक अहिंसा वहुत दूर रहेगी। गो जाति तो निरामिष भोजी है और भेड़ जाति भी। तो क्या वे परम योगी होती हैं—क्या वे परम अहिंसक हैं। कोई भी मूर्ख मनुष्य अपनी इच्छानुसार

कोई विशेष भोजन सामग्री त्याग सकता है। उद्भिज भोजी जीव जन्तु जैसे केवल उद्भिज खाने से कोई विशेष उन्नति नहीं कर पाते, उसी तरह यह मूर्ख खाद्य विशेष के त्यागने से ज्ञानी नहीं हो सकता। जो व्यक्ति निर्दयता से अनाथ बालक बालिकाओं तथा विधवाओं को ठगता फिरता है, लाभ के लिए सब जघन्य कार्य करता है, वह यदि केवल घास खाकर भी जीवन व्यतीत करे, तो भी वह पशु से भी अधिक अधम है। जिसके हृदय में कभी भी दूसरों की अनिष्ट चिन्ता जागृत नहीं होती, जो केवल अपने बन्धु की ही नहीं, वरन् अपने परम शत्रु के सौभाग्य पर भी आनन्दित हो जाता है, वह सारा जीवन सुअर का मांस खाने पर भी प्रकृत भक्त होता है, प्रकृत योगी और सबका गुरु माना जाता है। अतएव यह सर्वदा स्मरण रखना चाहिए कि बाह्य-क्रिया कलाप केवल अन्तः शुद्धि के लिए होता है। यदि कार्य-रूप में बाह्य विषय का विचार मार्गावरोधक बने तो केवल अन्तः शौच का अवलम्ब ग्रहण करना यथेष्ट होता है। उस मनुष्य को धिक्कार है, उस जाति को धिक्कार है, जो मनुष्य अथवा जाति, धर्म के सार को भूलकर अभ्यास वश बाह्य अनुष्ठानों को मृत्यु के समान पकड़ता है और कभी छोड़ना नहीं चाहता। यदि ये अनुष्ठान अध्यात्मिक जीवन के विशेष सहायक हैं, तो ही इनकी उपयोगिता है यह कहना पड़ेगा। पर प्राण-शून्य, आन्तरिकता हीन होजाने पर इन्हें निर्दयता से उखाड़कर फेंक देना चाहिए।

'अनवसाद' अर्थात् बल भक्ति प्राप्ति का और एक साधन है।

श्रुति कहती है "नायंमात्मा वलहीनेन लभ्यः" अर्थात् यह आत्मा निर्वल द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता। यहाँ पर शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की दुर्बलता लक्षित की गई है। "वलिष्ठ" व्यक्ति ही शिष्य वनाने योग्य होता है। दुर्वल, शीर्णकाय, जराजीर्ण व्यक्ति वेचारा क्या साधना करेगा। शरीर और मन में जो अद्भुत शक्ति छिपी हुई हैं, वह किसी प्रकार के योगाभ्यास द्वारा यदि किञ्चिन्मात्र जागृत हो उठी, तो दुर्वल व्यक्ति का एकाएक नाश हो जायगा। 'युवा, स्वस्थकाय, सवल मनुष्य ही केवल सिद्ध हो सकता है। अतएव शारीरिक वल न होने से कोई काम चल नहीं सकता। इन्द्रियाँ संयम की प्रतिक्रिया अत्यंत सवल शरीर ही सह सकता है। अतएव जिसे साधु, भक्त होना है उसे स्वस्थ और सवल होना आवश्यक है। जो अत्यंत दुर्वल हैं वे यदि किसी प्रकार का योगाभ्यास करने की चेष्टा करते हैं, तो वे किसी ऐसी व्याधि के वशीभूत हो जाते हैं, जिसकी औषधि हो ही नहीं सकती अथवा उनका मन भयानक दुर्वलता के वशीभूत हो जाता है।

और जिनके चित्त में दुर्वलता है, वे भी आत्म-लाभ में कृत-कार्य नहीं होते। जो भक्त होने के इच्छुक हैं उन्हें तो सर्वदा प्रफुल्ल-चित्त रहने की आवश्यकता है। पाश्चात्य देशों में आदर्श धार्मिकों के लक्षण माने जाते हैं कि वह कभी भी न हँसे, उनके मुख पर सदैव विषाद के वादल घिरे रहें और मुँह खिंचा-सा हो। ऐसे शुष्क शरीरधारी और उदास मुँहवाले वैद्य के अनुसंधान के विषय हो सकते हैं, किन्तु योगी नहीं। सन्तुष्ट चित्त व्यक्ति ही अध्यवसाय-शील

हो सकता है। दृढ़चेता व्यक्ति ही सहस्रों विघ्न-बाधाओं को पार कर सकता है। माया के दुर्जय जाल को काटने का कठिन कार्य केवल महा-वीरों द्वारा होना ही सम्भव है।

किन्तु हर्ष के स्थान में आमोद प्रमोद में मतवाला न बनना चाहिए। अति हास्य हमारी गम्भीर चिन्तना को कठिन कार्य कर देता है अस्तु अक्षम्य है। इससे मानसिक शक्ति समूह व्यर्थ ही क्षय हो जाता है। इच्छा शक्ति जितनी ही दृढ़ होगी, नाना भावावेशों से वह उतना ही कम विचलित होगी। दुःख जनक गम्भीर भावावेश जितना खराब है वैसा ही यह आमोद प्रमोद। जब मन सामञ्जस्य पूर्ण होता है तो स्थिर शान्त-भाव द्वारा तभी सब प्रकार की अध्यात्मिक अनुभूति सम्भव है।

इन साधनों द्वारा क्रमशः ईश्वर भक्ति का उदय होता है।

परा भक्ति—त्याग

अब हम गौण-भक्ति की कथा समाप्त करके परा-भक्ति की आलोचना करेंगे और इस सम्बन्ध में परा-भक्ति के अभ्यास-पथ में एक विशेष साधन की बात है बतलावेंगें। सब प्रकार के साधनों का उद्देश्य होता है आत्म-शुद्धि। नाम साधन, प्रतीक, प्रतिमादिक की उपासना और अन्यान्य अनुष्टान केवल आत्मा को शुद्ध करने के लिये ही हैं; किन्तु शुद्धिकारक सर्व साधनों में त्याग ही सर्वश्रेष्ठ है। उसके बिना कोई भी इस परा-भक्ति के साम्राज्य में प्रवेश नहीं पा सकता। बहुत लोगों के लिये यह त्याग अत्यन्त भयानक व्यापर प्रतीत होता है; किन्तु उसके बिना किसी प्रकार की भी अध्यात्मिक उन्नति सम्भव है ही नहीं। सब प्रकार के योग में त्याग आवश्यक है। यह त्याग ही धर्म की सीढ़ी है—सब साधनों का अन्तरंग साधन है। त्याग ही स्वाभाविक धर्म है। जिस समय मनुष्य की आत्मा संसार की सब वस्तुओं को दूर फेंककर गम्भीर तत्व-समूह का अनुसन्धान करता है, जब वह समझ पाता है कि मैं जड़ देह में बँधा हुआ जड़ हुआ जारहा हूँ और क्रमशः विनाश की ओर अग्रसर

हो रहा हूँ, और यह समझ कर जड़ पदार्थ से अपनी दृष्टि हटा लेता है, तभी स्वाभाविक, अध्यात्मिक उन्नति आरम्भ होती है। कर्मयोगी सब कर्मफल त्याग देते हैं, वह जो सब काम करते हैं, उनके फलों में अनुरक्त नहीं होते। वे ऐहिक अथवा दैविक किसी प्रकार के लाभ के लिये आग्रह नहीं करते! राजयोगी जानते हैं कि सारी प्रकृति हमारा लक्ष्य है। पुरुष और आत्मा की विचित्र सुख-दुःखानुभूति करते हैं और इसका फल यह होता है कि प्रकृति से वे अपने को नित्य स्वतंत्र समझते हैं। मनुष्य की आत्मा को जानना होगा कि वह अनन्त काल से आत्मस्वरूप हो रहा है और भूत से उसका संयोग केवल सामयिक, क्षणिक मात्र रहा। राजयोगी प्रकृति के सब सुख दुःखों को भोगकर फेंकने के बाद वैराग्य सीखता है।

ज्ञानयोगियों का वैराग्य सबकी अपेक्षा कठोरतम होता है, क्योंकि पहले ही से उन्हे यह समझ लेना होता है कि यह सत्यवत प्रतीत होनेवाली सारी प्रकृति मिथ्या है। उसे समझना चाहिए कि प्रकृति में जो कुछ भी शक्ति का प्रकाश दिखलाई देता है, वह सब आत्मा की शक्ति है, प्रकृति की नहीं। प्रारम्भ ही से जानना होता है कि आत्मा मे ही सब प्रकार का ज्ञान अन्तर्निहित रहता है, प्रकृति में कुछ भी नहीं। अतएव विचारजनित धारणा के बल से उसे एकबार सारे प्राकृतिक बन्धनों को तोड़ फेंकना है। प्रकृति और सारे प्राकृतिक पदार्थों से उसे अपनी दृष्टि फेर लेना चाहिए और छाया के समान समझकर उन्हें अपने सामने से हटा देना

चाहिए। उसे स्वयं अपने पैरों पर खड़ा होने की चेष्टा करनी चाहिए।

सब प्रकार के वैराग्यों से भक्ति-योगी का वैराग्य ही अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है। इसमें किसी प्रकार की कठोरता नहीं, कुछ छोड़ना नहीं पड़ता, कोई कुछ छीन नहीं लेता—जबर-दस्ती हमें कोई त्याग नहीं करना पड़ता। भक्त का त्याग अत्यन्त सहज—अत्यन्त स्वाभाविक होता है। इस प्रकार का त्याग कभी कभी विकृत रूप में भी हमारे चारों ओर दिखलाई पड़ता है। एक व्यक्ति किसी स्त्री को प्रेम करना प्रारम्भ करता है, कुछ दिन बाद वह और किसी को प्रेम करने लगता है, तब उस पहली स्त्री का ध्यान उसके हृदय से जाता रहता है। धीरे-धीरे, अत्यन्त सहज स्वभाव से, उस स्त्री का ध्यान उस पुरुष के हृदय से विलुप्त हो जाता है और उस स्त्री का अभाव उसके हृदय को कोई क्लेश नहीं पहुँचाता। ऐसे ही यदि एक स्त्री किसी पुरुष को प्रेम करना प्रारम्भ करती है और फिर दूसरे को प्रेम करने लगती है तो उस पहले पुरुष का ध्यान सहज ही उसके हृदय से जाता रहता है। कोई मनुष्य अपने नगर से अत्यन्त प्रेम करता है, क्रमशः वह अपने देश को प्रेम करना प्रारम्भ करता है तो अपने नगर के प्रति जो उसे प्रगाढ़ प्रेम था, वह धीरे-धीरे शान्त हो जाता है। और यदि किसी ने सारे संसार को प्रेम करना सीख लिया है तो उसका स्वदेशानुराग—अपने देश के लिये प्रबल उन्मत्त प्रेम भी, प्रशान्त हो जाता है और इससे उसे कोई कष्ट भी

नहीं होता और न कोई जोर-जबरदस्ती ही करनी पड़ती है। अशिक्षित लोग इन्द्रिय-सुख में उन्मत्त रहते हैं। शिक्षित होने पर यही लोग ज्ञान-चर्चा में अधिक आनन्द प्राप्त करने लगते हैं। उस समय उन्हें विषयादि भोगों मे उतना सुख नहीं मिलता। कुत्ते अथवा शेर को खाद्य मिलने पर वह जिस स्फूर्ति के साथ भोजन करते हैं, मनुष्य उस उत्तेजित-स्फूर्ति से नहीं खाते और मनुष्य बुद्धिबल द्वारा जो नाना विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है और नाना प्रकार के कार्य करता है इनसे जो सुख अनुभव करता है, वह कुत्ते को वह स्वप्न में भी नहीं मिलता।

पहले इन्द्रियों द्वारा सुख की अनूभूति होती है; किन्तु ज्योंही जीव इस पशुता से ऊपर उठने लगता है—उन्नति प्रारम्भ करता है, त्योंही उसकी इन निम्न जातीय सुखों के सम्भोग की इच्छा नहीं रहती। मनुष्य समाज में भी प्रायः यही देखा गया है कि जिसकी जितनी प्रवृति पशु के समान होती है। वह उतनी ही तीव्रता से इन्द्रिय सुखों का अनुभव करता है तथा शिक्षादि में वह जितनी उन्नति करता है, उसका बुद्धिवृत्त उतना ही परिचालित हो उठता है, जिससे उसे सूक्ष्म-सूक्ष्म विषयों में सुखानुभूति प्राप्त होती है। इसी प्रकार जब मनुष्य बुद्धि अथवा मनोवृत्ति से भी ऊँचे उठने लगता है—जब वह अध्यात्मिकता और भगवत-तत्वानुभूति की भूमि से उन्नति-शिखर पर चढ़ने लगता है तो वह एक ऐसी आनन्द की अवस्था को प्राप्त करता है, जिसकी तुलना में इन्द्रिय तथा बुद्धि परिचालन जनित सुख शून्य के

समान प्रतीत होने लगते हैं। जब चन्द्रदेव उज्ज्वल किरणमाला विकसित करते हैं तो तारागण निष्प्रभ हो जाते हैं और सूर्य के प्रकाश करते ही चन्द्रमा भी निष्प्रभ हो जाता है। भक्ति के लिए जिस वैराग्य की आवश्यकता है, उससे किसी का कुछ नाश नहीं होता। जैसे किसी क्रमशः बढ़ते हुए प्रकाश के सामने अल्पोज्वल प्रकाश स्वभावतः निष्प्रभ होजाता है और अन्त में क्रमशः अन्तर्हित होजाता है। इसी प्रकार भगवत् प्रेमोन्मत्तता के सन्मुख इन्द्रियवृति और बुद्धि-वृत्ति परिचालन जनित सारे सुख स्वभावतः निष्प्रभ होजाते हैं। यह ईश्वर-प्रेम क्रमशः बढ़कर एक ऐसा भाव धारण करता है, जिसे परा-भक्ति कहते हैं। तभी इस प्रेमी पुरुष के लिए किसी प्रकार के अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं रहती—शास्त्र से कोई मतलब नहीं रहता। प्रतिमा, मन्दिर, भजनालय, विभिन्न धर्म सम्प्रदाय, देश, जाति यह सब छोटे सीमाबद्ध भाव उससे छूट जाते हैं। कुछ भी उसे बाँध नहीं सकता—कोई भी उसकी स्वाधीनता नहीं नष्ट कर सकता। जहाज जब हठात् किसी चुम्बक की शिला के पास पहुँचता है तो उसका सारा लोहा निकल कर चुम्बक से चिपक जाता है और लकड़ी के तख्ते पानी पर तैरने लगते हैं। इसी प्रकार ईश्वर की कृपा, आत्मा के स्वरूप-प्रकाश करने में जितने विघ्न हैं सब को हर लेती है और तब वह मुक्त हो जाता है। अतएव भक्ति-लाभ के उपाय स्वरूप इस वैराग्य साधन में कोई कठिनता नहीं, कोई भी कर्कश

अथवा शुष्क भाव या किसी प्रकार की ज़बरदस्ती नहीं करनी पड़ती है। भक्त को अपने हृदय के किसी भाव को भी नहीं दबाना पड़ता। वरन् उन्हीं सब भावों को प्रबल करके भगवान की ओर परिचालित करना होता है।

भक्त का वैराग्य प्रेम का उत्पादक होता है

हम सर्वत्र प्रकृति में प्रेम ही प्रेम पाते हैं। समाज में हमें जो कुछ भी सुन्दर और महान मिलता है, वह सब इसी प्रेम से प्रादुर्भूत हुआ है और उसमें जो पैशाचिक व्यापार दिखाई देते हैं, वह सब उसी एक प्रेम भावना के केवल विकृतरूप मात्र हैं। पति-पत्नी में विशुद्ध दाम्पत्य प्रेम तथा अत्यंत नीच काम प्रवृत्ति दोनों ही उसी एक प्रेम के दो विकास हैं। एक ही भाव के विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न रूप हो जाते हैं। इसी प्रेम को अच्छी या बुरी ओर परिचालित करने का फल यह होता है कि कोई तो दरिद्र को अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है और कोई अपने भाई का भी गला काटकर उसका सर्वस्व अपहरण कर लेता है। यह दूसरा पुरुष जैसे अपने को प्रेम करता है, उसी प्रकार पहला, दूसरों को प्रेम करता है। दूसरे ने अपने प्रेम को बुरी ओर परिचालित किया और पहले ने उसका ठीक प्रयोग किया। जो अग्नि हमारे भोजन पकाने में सहायक है, वही एक बच्चे के शरीर को जलाने का कारण भी हो सकती है। इसमें अग्नि का कोई दोष नहीं, यह तो उसके व्यवहार करने के फल हैं। अतएव यही प्रेम, यही प्रबल मिलन-इच्छा दो व्यक्तियों

को एकप्राण हो जाने की यह प्रवल इच्छा और तदुपरान्त सबको उसी एक ईश्वर-रूप में विलीन होने की प्रवल उत्कण्ठा सर्वत्र उत्तम अथवा अधम भाव से प्रयुक्त पाया जाता है।

भक्तियोग प्रेम के उच्चतम विकास का विज्ञान स्वरूप है। वह हमको प्रेम को यथार्थ पथ में परिचालित करने, उसे अपने आधीन रखने. उसके सद्व्यवहार करने, उसे नए रास्ते पर दौड़ाने और इसके श्रेष्ठ तथा उत्तम फल स्वरूप जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त करने में सहायक पथ प्रदर्शन करता है। भक्तियोग कुछ त्याग करने की शिक्षा नहीं देता, केवल यही कहता है कि—"उसी परमपुरुष में आसक्त हो।" और जो परमपुरुप के प्रेम में उन्मत रहते हैं. स्वभावतः उन्हें नीच विषयों में कोई आसक्ति नहीं रहती।

"मैं तुम्हारे सम्बन्ध में और कुछ नहीं जानता, केवल यही जानता हूँ कि तुम मेरे हो। तुम सुन्दर हो, अरे, तुम अत्यन्त सुन्दर हो, तुम स्वयं सौंदर्य स्वरूप हो।" भक्तियोग में कहते हैं—"हे मानव! सुन्दर वस्तु के प्रति तुम स्वभावतः आकर्षित होते हो। भगवान परम सुन्दर हैं। तुम उनको प्राणों से प्रेम करो।" मनुष्य के मुख में, आकाश में, तारों में अथवा चन्द्रमा में जो सौन्दर्य-विकास देखा जाता है वह कहाँ से आता है? वह उसी भगवान के सर्वतो मुखी प्रकृत सौन्दर्य का आंशिक प्रकाशमात्र है। "तस्य भास्या सर्वमिदं विभाति" अर्थात् "उसी के प्रकाश करने पर यह सब प्रकाशित होता है। भक्ति की इस ऊँची भूमि पर तुम स्थिर हो तो यह अनायास तुम्हें तुम्हारा क्षुद्र अपनापन

भुला देगा। संसार की क्षुद्र स्वार्थपरता तथा आसक्ति का त्याग कर दो। अपने मन से यह निकाल दो कि मनुष्य जाति ही तुम्हारी उच्चतर कार्य-प्रवृत्ति का एक लक्ष्य है। साक्षी के समान प्रकृति के सारे व्यापारों को देखो। मनुष्य के प्रति आसक्ति शून्य हो जाओ और देखो कि संसार में यह प्रबल प्रेम-प्रवाह क्या काम करता है? कभी-कभी धक्का लगेगा पर यह भी उसी परम प्रेम प्राप्त करने की चेष्टा का आनुसंगिक व्यापार होता है। कभी-कभी भीषण द्वन्द्व होगा, कभी-कभी पदस्खलित भी हो सकता है; परन्तु यह सब उसी परम प्रेम की सीढ़ी पर चढ़ने का प्रयास ही होगा। चाहे द्वन्द्व हो, चाहे संघर्ष—तुम साक्षीस्वरूप दूर खड़े रहो। जब तुम इस संसार के प्रवाह में पड़ जाओगे, तभी तुम यह धक्के खाओगे। किन्तु जब तुम उसके बाहर केवल साक्षी स्वरूप खड़े रहोगे तो देखोगे कि प्रेम स्वरूप ईश्वर अनन्त रूप में प्रकाशित होता है।

"जहाँ कहीं भी कुछ आनन्द मिलता है, वह घोर विषयानन्द होने पर भी, उसी अनन्त आनन्दस्वरूप भगवान का अंश है, यही समझना होगा।" अत्यन्त नीचतम आसक्ति में भी भगवत्-प्रेम का बीज छिपा रहता है। संस्कृत भाषा में भगवान का 'हरि' एक नाम है। इसका अर्थ यह है कि 'वे सबको अपनी ओर खींचते हैं'। वास्तव में केवल वही हमारे प्रेम के उपयुक्त पात्र हैं। हम इधर-उधर आकर्षित होते हैं। किन्तु हमें आकर्षित करता कौन है? वही हमें अपनी गोद में बुलाते हैं—क्रमागत आकर्षित

करते हैं। प्राणहीन जड़ पदार्थ क्या कभी चैतन्य आत्मा को आकर्षित कर सकता है? कभी नहीं। किसी सुन्दर मुख को देखकर कोई उन्मत हो जाता है, क्या आप समझते हैं कि उस मुख के जड़ परिमाणुओं को देखकर वह पागल हो गया? कभी नहीं। इन जड़ परिमाणु समूहों में अवश्य ही कोई ऐश्वरिक शक्ति है, निश्चय ही कोई भगवान के प्रेम की क्रीड़ा विद्यमान है। अज्ञानी लोग इसे नहीं जानते। किन्तु जानते हुए या अज्ञानवश वह उसी के द्वारा, केवल उसी शक्ति के द्वारा आकृष्ट होते हैं। अस्तु, देखा गया है कि अत्यन्त नीचतम आसक्ति भी मनुष्य पर जो प्रभाव डालती है, वह प्रभाव भी ईश्वरीय प्रभाव की एक किरण ही समझो। बृहदारण्यक में लिखा है—"न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति" अर्थात् "हे प्रियतमे! पति के लिये पति को कोई प्यार नहीं करता। किन्तु पति की अन्तरस्थ आत्मा के लिये ही पति प्रिय होता है। प्रेमिका पत्नियाँ इस रहस्य को समझती भी हैं और नहीं भी समझतीं; परन्तु फिर भी उक्त मर्म सत्य ही है। "न वा अरे जायाये कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्थ कामाय जाया प्रिया भवति" अर्थात् "हे प्रियतमे! पत्नी के लिये पति पत्नी का प्यार नहीं करता किन्तु पत्नी की अंतरस्थ आत्मा के ही लिए पत्नी प्रिया होती है"।

इसी प्रकार कोई भी अपनी सन्तान को या और किसी को उसके लिये प्रेम नहीं करता, उसमें अन्तरस्थ आत्मा के लिये ही

उसका प्यार होता है। भगवान एक बड़े चुम्बक पत्थर के समान हैं, हम लोग लोहे के छोटे-छोटे खंडों के समान। हम सभी सर्वदा उसके द्वारा आकृष्ट होते रहते हैं—हम सभी उसकी प्राप्ति के लिये चेष्टा करते हैं। संसार में जो नाना प्रकार की चेष्टायें होती हैं, उन सबका एकमात्र लक्ष्य स्वार्थ ही नहीं हो सकता। अज्ञानी लोग नहीं जानते कि उनके जीवन का लक्ष्य क्या है? वास्तव में वे क्रमशः उसी परमात्मा रूप बड़े चुम्बक की ओर अग्रसर होते हैं। हमारे इस कठोर जीवन-संग्राम का लक्ष्य है उसके निकट पहुँचना और उसके साथ एकीभूत होना।

भक्तियोगी इस जीवन संग्राम का अर्थ जानते हैं। यह इस संग्राम को पार करके आये हैं—अतएव वे जानते हैं कि उसका लक्ष्य क्या है? इसी कारण से वे अपने प्राणों की बाजी लगा कर यही इच्छा करते हैं कि हम विषयाकर्षण के आवर्त में पड़कर गोते न खावें वरन् सब आकर्षणों के मूल-कारण-स्वरूप 'हरि' के निकट एक बार पहुँच जावें। भक्त का त्याग यही है—भगवान के प्रति यह महान आकर्षण उसकी और सब आसक्ति का नाश कर देता है। यह प्रबल अनन्त प्रेम उसके हृदय में प्रवेश करके अन्यान्य आसक्तियों को वहाँ नहीं रहने देता। तब और कोई आसक्ति वहाँ कैसे ठहर सकती है?

उस समय भक्त स्वयम् भगवान-रूपी प्रेम-समुद्र के जल में अपने हृदय को परिपूर्ण पाता है तथा क्षुद्र प्रेम का वहाँ कोई स्थान नहीं रहता। तात्पर्य यह है कि भक्त का वैराग्य, अर्थात्

भगवान के अतिरिक्त और सब विषयों में अनासक्ति, भगवान के प्रति उसका परम अनुराग उत्पन्न होने पर आप ही आप आ जाता है।

परा-भक्ति की प्राप्ति के लिये इस प्रकार के भाव में प्रस्तुत रहना आवश्यक है। इस वैराग्य लाभ से परा-भक्ति के उच्चतम शिखर पर जाने का द्वार खुल जाता है। तभी हम समझना शुरू करते हैं कि परा-भक्ति क्या है। और जो परा-भक्ति के राज्य में प्रवेश करते हैं, एकमात्र उन्हीं को ही यह कहने का अधिकार है कि प्रतिमा पूजा अथवा बाह्य अनुष्ठानादि की कोई आवश्यकता नहीं। केवल वही उस कथित परम प्रेमावस्था को प्राप्त होते हैं। जहाँ सब मनुष्य भ्रातृ-भाव से देखे जाते हैं और लोग तो केवल 'भ्रातृ भाव' 'भ्रातृ भाव' चिल्लाते हैं और उसका भेद नहीं पाते। महान् प्रेम समुद्र तब उनमें प्रवेश करता है और वे मनुष्य के भीतर मनुष्य नहीं देखते वरन् सर्वत्र ही वे अपने प्रियतम को देखते हैं। जिसके मुख की ओर वह देखते हैं, उसी के भीतर वे हरि का प्रकाश पाते हैं। सूर्य अथवा चंद्र का प्रकाश उसी का प्रकाशमात्र है। जहाँ कहीं कुछ भी सौंदर्य अथवा महत्व मिलता है, उनकी दृष्टि में वह सब भगवान का ही है। इस प्रकार के भक्त अब भी संसार में हैं। कभी भी संसार इस प्रकार के भक्तों के बिना नहीं होता। इसी प्रकार के व्यक्ति साँप के काटने पर भी यही कहते हैं कि हमारे प्रियतम के पास से यह प्रेम-दूत आया है। केवल इसी प्रकार के व्यक्ति को अधिकार

है कि वह सार्वजनिक भ्रातृभाव के संबंध में कोई बात कहे। उनके हृदय में कभी क्रोध, घृणा अथवा ईर्ष्या का उदय नहीं होता। बाह्य पदार्थ, इन्द्रिय ग्राह्य पदार्थ सब कुछ उसके लिये विलुप्त हो जाता है। उनको क्रोध कैसे आ सकता है, जब वे प्रेम के बल से इन्द्रियों के परे सत्य को सर्वदा देखते रहते हैं।

भक्ति-योग की स्वाभाविकता और उसका रहस्य

अर्जुन ने भगवान कृष्ण से पूछा कि * जो सर्वदा अवहित होकर (निरन्तर जुटकर) तुम्हारी उपासना करते हैं और जो अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म की उपासना करते हैं, इन दोनों में से कौन अधिक श्रेष्ठ योगी है ? श्रीकृष्ण भगवान

---

* अर्जुन उवाच ।

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वाम् पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तम् तेषां के योगवित्तमाः ॥

श्री भगवान उवाच ।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्य युक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तम् पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलम् ध्रुवम् ॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ।
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्त चेतसाम् ॥
अव्यक्ताहि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ।
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ॥

उत्तर देते हैं—"जो अपने मनको मुझमें लय करके नित्य युक्त होकर परम श्रद्धा के साथ मेरी उपासना करते हैं, वही मेरे श्रेष्ठ उपासक हैं—वही अधिक श्रेष्ठ योगी हैं और जो निर्गुण, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, निर्विकार, नित्यस्वरूप का इन्द्रिय संयम के साथ और सब विषयों में समबुद्धि के साथ उपासना करते हैं, वे सर्वभूतहितरत व्यक्ति भी मुझे पा लेते हैं; किन्तु जिनका मन अव्यक्त में आ सकता है, उन्हें अधिक कष्ट होता है; क्योंकि देहाभिमानी पुरुष बड़ी कठिनाई से इस अव्यक्त गति को प्राप्त होता है; किन्तु जो लोग अपने सब कर्म मुझको समर्पित करके, मत्परायण होकर, मेरा ध्यान और उपासना करते हैं मैं शीघ्र ही उन्हें जन्म-मृत्यु के संसार-सागर से उद्धार करता हूँ; क्योंकि उनका मन सदैव ही मुझमें सम्पूर्ण रूप से आसक्त रहता है।"

इस स्थान पर ज्ञान और भक्ति दोनों ही योगों को लक्षित किया गया है और उद्धृत श्लोकार्थ में दोनों ही के लक्षण बतलाए गए हैं। ज्ञान-योग अवश्य ही अत्यन्त श्रेष्ठ मार्ग है। तत्त्व विचार इसके प्राणों के समान है। और आश्चर्य का विषय तो यह है कि जो सब भावों में ज्ञान-योग के आदर्शानुकूल चले, वही समर्थ

अनन्येनैव योगेन मां ध्यायंत उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसार सागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यविशित चेतसाम्॥
श्रीमद्भगवद्गीता १२ अध्याय १-७ श्लोक॥

माना गया है। किन्तु वास्तविक ज्ञान-साधन बड़ा कठिन है— इसमें बड़ी विपदाशंकाएँ हैं

संसार में दो प्रकार के मनुष्य मिलते हैं—एक की तो आसुरी प्रकृति होती है, जो शरीर को सुख में रखना ही इस जीवन का परम उद्देश्य मानते हैं और दूसरे की देव प्रकृति जो शरीर को, केवल किसी विशेष उद्देश्य के साधन का उपाय मात्र मानते हैं और जो समझते हैं कि शरीर आत्मोन्नति साधन का विशेष यन्त्र मात्र है। शैतान अपने उद्देश्य साधन के लिए शास्त्रोक्तियाँ उद्धृत कर सकता है, करता है। अतएव ज्ञानमार्ग जिस प्रकार साधु व्यक्ति के सत्कार्य में प्रवल उत्साह देता है, उसी प्रकार असाधु-व्यक्ति के कार्यों का समर्थन कर सकता है। यही ज्ञानयोग में बड़ी विपदाशंका है; किन्तु भक्तियोग अत्यन्त स्वाभाविक और मधुर है। भक्त ज्ञानयोगी के समान इतना ऊँचा अनायास नहीं उठ जाता कि उसके गहरे गिरने की आशङ्का हो। पर यह समझे रहना चाहिए कि साधक चाहे जिस पथ का अवलम्बन करे; किन्तु जब तक उसके सब बन्धन मुक्त नहीं होते, तब तक वह कभी भी मुक्त नहीं हो सकता।

निम्नोद्धृत श्लोकों से मालूम होता है कि अनेक भाग्यवती गोपियों की जीवात्मा का बन्धनस्वरूप पाप-पुण्य कैसे क्षय हुआ? "भगवान के चिन्ताजनित परम आह्लाद में उनके सारे पुण्य कर्म जनित बन्धन कट गए और उनके अप्राप्ति जनित महादुख सागर में उनके सब पाप धो गए। तभी उन गोपियों

को मुक्ति लाभ हुआ।"* इस शास्त्रवाक्य से और भी समझा जा सकता है कि भक्तियोग का रहस्य यही है कि मनुष्य के हृदय में किस प्रकार की वासना अथवा भाव है, वह स्वयं ख़राब नहीं, इनको धीरे-धीरे अपने वश में करके हमको क्रमशः इन्हें ऊँचे-से-ऊँचा उठाना होगा, जब तक वह चरम सीमा तक न पहुँच जायें।

उनकी सर्वोच्च गति भगवान् हैं और सब गतियाँ तो निम्न श्रेणी की होती हैं। हमारे जीवन में सुख और दुख बार-बार घूमते रहते हैं। जब कोई मनुष्य धन अथवा इसी प्रकार की कोई सांसारिक वस्तु नहीं पाता और इसलिये दुख अनुभव करता है तो समझ लेना चाहिये कि वह अपनी प्रवृत्ति को ख़राबी की ओर झुकाता है। तथापि दुख की आवश्यकता भी है, प्रयोजनीयता भी है। संसार में यदि—"मैं भगवान को कैसे पाऊँगा? उस परमपुरुष की प्राप्ति कब होगी?" यह कहकर कोई मनुष्य दुःख से अस्थिर हो जाता है तो यही दुख उसकी मुक्ति का कारण हो जाता है। यदि गिन्नी पड़ी पाने पर तुम्हें आनन्द होता है तो तुम्हें समझना चाहिये कि तुम अपनी आनन्दवृत्ति को अधोगति की ओर परिचालित कर रहे हो। उसीको उन्नतर

---

*तच्चिन्ता विपुलाह्लाद क्षीणपुण्य चया तथा
तदप्राप्ति महद्दुःख विलीनाशेष पातका
चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परब्रह्म स्वरूपिणं
निरुच्छ्वास तथा मुक्तिं गतान्या गोपकन्यका
—विष्णुपुराण ५ अंश १३ अध्याय २१, २२ श्लोक

विषयों में प्रेरित करने से हमारे सर्वोच्च लक्ष्य भगवान के चिन्तन में आनन्द मिलेगा। अन्यान्य भावों के सम्बन्ध में भी यही बात है। भक्त कहता है—"इनमें से कोई भी नीच नहीं" और वह उन सबको ईश्वर की ओर घुमाकर ले जाता है।

भक्ति की अवस्थायें

भक्ति नाना प्रकार से प्रकाशित होती है, पहले तो श्रद्धा, लोग मन्दिर और तीर्थ-स्थानों के प्रति इतना श्रद्धा-सम्पन्न क्यों होते हैं ? क्योंकि इन सब स्थानों में उसी एक की पूजा होती है, इन सब स्थानों पर जाने से उसी एक के भाव का उद्दीपन होता है, इन सब स्थानों में उसी की सत्ता है। सब देशों में लोग अपने धर्माचार्यगणों के प्रति इतना श्रद्धासम्पन्न क्यों होते हैं ? क्योंकि वे सब उसी एक भगवान की महिमा का प्रचार करते हैं। क्या मनुष्य उनके प्रति विना श्रद्धासम्पन्न हुए रह सकता है ? इस श्रद्धा की जड़ है प्रेम। हम जिससे प्रेम नहीं करते उसके प्रति हम श्रद्धासम्पन्न भी नहीं हो सकते। फिर आती है प्रीति—भगवत् चिन्तन में आनन्दानुभूति। मनुष्य विषयों में कितना अपार आनंद अनुभव करते हैं। वे इन्द्रिय सुखकर वस्तुओं के लिये सर्वत्र जा सकते हैं, महान विपत्तियों का सामना कर सकते हैं, भक्त को भी ऐसा ही तीव्र प्रेम चाहिए। भगवान की ओर भी हमें इसी प्रेम का मुँह मोड़ना होगा। तदुपरान्त विरह—प्रियतम के न मिलने का महादुःख। यही दुःख संसार के सब दुःखों से मधुर है—अत्यन्त मधुर है। जब मनुष्य "उसको न

पा सकूँगा, जो जानना चाहता था न जान सकूँगा" कहकर अति-शय व्याकुल और उससे प्रादुर्भूत यन्त्रणा से अधीर और उन्मत्त हो जाता है तो समझेंगे कि विरह आया। मन को इस अवस्था में प्रियतम के विना कुछ भी अच्छा नहीं लगता। पार्थिव प्रेम में भी, उन्मत्त प्रेमी और प्रेमिकाओं में भी यही विरह प्रायः पाया जाता है। जिन स्त्री-पुरुषों में यथार्थ में परस्पर प्रेम होता है, उन्हें बहुत बुरा लगता है, यदि उन लोगों के आस पास कोई ऐसा हो, जिसे वे प्रेम नहीं करते। इसी प्रकार जब परा-भक्ति हृदय पर अपना अधिकार जमा लेती है तो जो भक्ति के विरोधी विषय हैं, वे मन को बुरे लगने लगते हैं। "तमेवेकं जानथ आत्म न मन्या" अर्थात् "उसी के विषय की, केवल उसी के विषय की चिन्तना करना और सब बातें त्याग देना"। जो लोग उसके सम्बन्ध की कथा वार्ता करें तो भक्त लोग उन्हें बन्धु कहते हैं और जो अन्य विषय की चर्चा करें तो शत्रु के समान उनको प्रतीत होते हैं। जब भक्त की यह अवस्था हो जाती है कि वह समझता है कि यह शरीर केवल उसी की उपा-सना के लिये है तो जान लेना चाहिए कि वह भक्ति की एक सीढ़ी और ऊपर चढ़ गया। उस समय विना उसके उसे एक मुहूर्त भी जीवन धारण करना असम्भव प्रतीत होता है और उसी प्रियतम की चिन्तना हृदय में वर्तमान होने से वे इस जीवन का सुख मानते हैं। इस अवस्था का शास्त्रीय नाम है 'तदर्थ प्राणस्थान।

तदीयता—"भक्ति के मत से साधक जब सिद्धावस्था को प्राप्त

होजाता है तो यही तदीयता होती है। जब वह भगवत्पादब्जस्पर्श से पवित्र और कृतार्थ होजाता है तो उसकी प्रकृति विशुद्ध हो जाती है—सम्पूर्णतया परिवर्तित होजाती है। उस समय उसके जीवन की सारी साध पूर्ण हो जाती है। तथापि इस प्रकार के भी भक्त हैं—जो उसकी उपासना के लिए ही जन्म धारण करते हैं। इस जीवन में उन्हें यही एक सुख है, उसे छोड़कर और कुछ वे नहीं चाहते। "आत्मारामश्च मुनयो, निर्ग्रन्थाहप्युरुक्रमे कुर्वन्त्ये हेतुकीं भक्ति इत्थंभूत गुणो हरिः" अर्थात् हे राजन्! हरि में ऐसे मनोहर गुण हैं कि जो एक बार परमतृप्ति पा जाते हैं, जिनकी हृदय ग्रन्थि कट चुकी है, वे भी भगवान की निष्काम भक्ति कर सकते है। (यंसर्वेदेवा नमन्ति मुमुक्षुर्नौब्रह्मवादिनश्च) (अर्थात् जिस भगवान की सब देवता गण मुमुक्षु और ब्रह्मवादी उपासना करते हैं।) प्रेम का प्रभाव ही यही है। जब 'हम और हमारा' ज्ञान भूल जाता है, तभी यह तदीयता प्राप्त होती है। तब उसके लिए सर्वस्व पवित्र हो जाता है; क्योंकि सब कुछ उसका प्रियतम है। सांसारिक प्रेम में भी प्रेमी के प्रति प्रिय की सब वस्तुएँ पवित्र और प्रिय लगती हैं। अपने प्राणधन के बदन का एक टुकड़ा वस्त्र भी उसे प्यारा लगता है। इसी प्रकार जो भगवान को प्रेम करता है, वह सारे संसार को प्रेम करता है; क्योंकि सारा जगत उसी का तो है।

सार्वजनिक-प्रेम

पहले जो समष्टि को प्रेम करना नहीं सीखता, वह व्यष्टि से भी प्रेम नहीं कर सकता। ईश्वर ही समष्टि है—सारे जगत् को यदि एक अखण्डरूप में चिन्तना की जाय तो यही ईश्वर चिन्तन होता है; और जगत् को जब पृथक्-पृथक् रूप में देखा जाता है, तभी वह जगत्—व्यष्टि रह जाता है। समष्टि को—उसी सर्वव्यापी को जैसे एक अखण्ड वस्तु में क्षुद्रतर अनेक वस्तु समूह हो सकते हैं, ऐसा मानकर जब प्रेम किया जाता है तो सारे संसार को प्रेम करना सम्भव हो जाता है। भारतीय दार्शनिक व्यष्टि से संतुष्ट नहीं हो जाते, व्यष्टि की ओर वे क्षिप्र-भाव से दृष्टिपात करते हैं और फिर व्यष्टि को अथवा उन सब विशेष भावों को जो सामान्य भाव के अन्तर्गत है, लेकर उनके अन्वेषण में प्रवृत्त हो जाते हैं। सब जीवों में इसी सामान्य भाव का अन्वेषण करना ही भारतीय दर्शन और धर्म का लक्ष्य है। जिसे जानने से सब कुछ जाना जा सकता है। उसी समष्टिभूत को—एक को, निरपेक्ष को, सब भूतों में अन्तर्गत सामान्य भाव स्वरूप पुरुष को जानना ही ज्ञानी का लक्ष्य होता है। जिसे प्रेम करने से इस सचराचर विश्व ब्रह्माण्ड के प्रति प्रेम उत्पन्न हो

जाय, भक्त उसी सर्वान्तर्यामी प्रधान पुरुष की उपलब्धि करना चाहता है और योगी उसी सर्व मूलीभूत शक्ति पर विजय प्राप्त करना चाहता है, जिसे जीतकर सारा संसार विजित हो जाता है। इतिहास देखने से पता लगता है कि भारतवासियों के मन की गति चिरकाल से जड़-विज्ञान, मनोविज्ञान, भक्ति, तत्व-दर्शन इत्यादि सब विभागों में जो एक सर्वगत तत्व विराजमान है, उसी के अनुसंधान में व्यस्त रही है। भक्त धीरे-धीरे इस निष्कर्ष पर पहुँच जाता है कि यदि तुम एक के बाद दूसरे को प्रेम करने लगते हो, तो तुम अनन्त काल में उत्तरोत्तर अधिक संख्या में लोगों को प्रेम कर सकोगे, परन्तु सब लोगों को एक साथ-प्रेम करने में समर्थ नहीं हो सकते। किन्तु अन्त में जब यह सत्य-सिद्धांत मालूम हो जायगा कि ईश्वर सब प्रेम का समष्टि स्वरूप है, मुक्त, मुमुक्षु, बद्ध, संसार की सब जीवात्माओं आदर्श समष्टि ईश्वर ही है, तभी तुम्हारे लिये सार्वजनिक-प्रेम संभव होगा। भगवान समष्टि हैं और यह सब परिदृश्यमान जगत भगवान का ही परिच्छिन्न भाव है; उसी की अभिव्यक्ति मात्र है। समष्टि को प्रेम करने पर संपूर्ण जगत् के प्रति प्रेम उत्पन्न हो जायगा—तभी जगत् को प्रेम तथा जगत् का हित साधन सब सहज हो जायगा। पहले भगवत् प्रेम द्वारा हमें इस शक्ति को प्राप्त करना होगा, नहीं तो जगत् का हित साधन भी परिहास का विषय बन जायगा। भक्त लोग कहते हैं—"सब कुछ उसी का है। वह हमारा प्रियतम है, मैं उसे प्रेम करता हूँ।"

इस प्रकार भक्त के लिए सब कुछ पवित्र हो जाता है; क्योंकि

सब कुछ है तो उसी का, सब उसी की तो सन्तान हैं, उसी के तो अखण्ड स्वरूप हैं और उसी के प्रकाश से प्रकाशित हैं ; तो दूसरे के प्रति हिंसा कैसे हो सकती है ? दूसरे को कैसे नहीं प्रेम करोगे ? भगवत-प्रेम उत्पन्न हो जाने पर उसी के साथ उसके निश्चित फलस्वरूप सर्वभूतों से प्रेम हो जायगा। हम जितना ही भगवान की ओर अग्रसर होंगे, उतना ही सब वस्तुओं को उन्हीं के भीतर पाएँगे। जब जीवात्मा यह परा प्रेमानन्द प्राप्त करेगा। तभी वह ईश्वर को सर्वभूतों में देखेगा—हमारा हृदय प्रेम की अनन्त धारा का श्रोत बन जायगा और जब हम इस प्रेम की एक और उच्चतर सीढ़ी पर पहुँचेंगे तो इस जगत के सारे क्षुद्र पदार्थों में जो पार्थक्य है, हमारी दृष्टि से विलुप्त हो जायगा। तब मनुष्य को भक्त मनुष्य नहीं मानता, उसे ईश्वर समझता है, पशु को भी पशु न मानकर ईश्वर ही समझता है, यहाँ तक कि शेर को भी शेर नहीं समझता, उसे भी भगवान का ही स्वरूप समझता है। इस प्रकार की इस प्रगाढ़ भक्ति की अवस्था में सब प्राणी, सब वस्तुएँ हमारी उपास्य हो जाती हैं। "एवं सर्वेषु भूतेषु भक्ति रव्यभिचारिणी। कर्तव्या पण्डितैर्ज्ञात्वा सर्व भूतमयं हरि" अर्थात् "हरि को सर्व प्राणियों में स्थित जानकर ज्ञानी को सब प्राणियों के प्रति अव्यभिचारिणी भक्ति का प्रयोग करना चाहिए।" इस प्रकार के प्रगाढ़, सर्वग्राही प्रेम का फल होता है, सम्पूर्ण आत्मनिवेदन। तब यह विश्वास हो जाता है कि संसार में अच्छा बुरा कुछ नहीं है—हमारा अनिष्टकारी

कुछ भी नहीं है (अप्रातिकूल्य)। तभी वह प्रेमिक दुःख आने पर कहता है कि "दुःख ! तुम्हारा स्वागत है।" कष्ट आने पर कहता है "आवो कष्ट ! तुम भी हमारे प्रियतम के पास से आए हो।" सर्प के आने पर वह उसका भी स्वागत करता है। मृत्यु के आने पर इस प्रकार भक्त हँसते हुए उसे प्रणाम करता है और कहता है—"मैं धन्य हूँ, मेरे पास यह सब आते हैं, आवो, सब कुछ आओ।" भगवान और जो कुछ उनका है, उस सबके प्रति प्रगाढ़ प्रेम से उत्पन्न इस पूर्ण निर्भर-अवस्था में भक्त के लिए सुख-दुःख में कोई भेद नहीं रहता। वह दुःख से कोई विरक्ति नहीं अनुभव करता। और प्रेमस्वरूप भगवान की इच्छा पर इस प्रकार द्विविधाशून्य निर्भर रहना क्या महावीरत्वपूर्ण तथा क्रिया-कलाप जनित यश की अपेक्षा अधिक वाञ्छनीय नहीं है ?

अधिकांश मनुष्यों के लिए शरीर ही सर्वस्व है। उनकी निगाहों में शरीर ही सारे संसार के बराबर है और शरीर का सुख ही उन्हें सब कुछ है। यही शरीर और उसके भोग्य वस्तुओं के उपासना स्वरूपी शैतान हम सब लोगों में रहता है। हम लोग खूब लम्बी चौड़ी बातें करते हैं, बड़े ऊँचे-ऊँचे विषयों की आलोचना कर सकते हैं; किन्तु फिर भी हम गिद्ध ही बने रहते हैं। चाहे जितना ऊँचे उड़ें परन्तु गिद्ध के समान हमारी दृष्टि नीचे के मास खण्ड पर ही रहती है। पूछो, शेर से हमारे शरीर की रक्षा करने का क्या प्रयोजन है ? क्या हम यह शरीर शेर को अर्पित नहीं कर सकते ? इससे व्याघ्र की तृप्ति होगी और

यह आत्मोत्सर्ग और उपासना से विभिन्न भी नहीं। क्या तुम अहंभाव को सम्पूर्ण रूप से नष्ट कर सकोगे? प्रेम-धर्म की यह चरम सीमा है और विरले ही इस अवस्था की प्राप्ति कर पाते हैं। परन्तु जब तक मनुष्य सदैव ही इस आत्मोत्सर्ग के लिए अपने अन्तःकरण से तैयार नहीं रहता, तब तक वह पूर्ण भक्त नहीं हो सकता। हम सब अपने शरीर की, थोड़े अथवा अधिक समय तक रक्षा कर सकते हैं और थोड़ा बहुत स्वास्थ्य-सम्भोग भी कर सकते हैं; परन्तु उससे होता क्या है? शरीर तो एक दिन जायगा ही। उसमें नित्यता तो है नहीं। धन्य हैं वे जिनका शरीर दूसरों की सेवा में नाश होता है। साधु लोग दूसरों के हित के लिए, उनकी सेवा में धन तो क्या प्राण तक दे देते हैं। इस संसार में केवल मृत्यु ही सत्य है—ध्रुव है, तो यदि हमारा शरीर किसी बुरे काम को छोड़कर भले काम में चला जाय, तभी उसे बहुत अच्छा कहेंगे। हम किसी प्रकार जोर लगाकर पचास अथवा सौ वर्ष जी सकते हैं, मगर फिर उसके बाद? उसके बाद क्या होगा? जो वस्तु सम्मिश्रण से उत्पन्न होती है, विश्लेषण से वही विनष्ट हो जाती है। ऐसा समय आयेगा, जब उसे विश्लिष्ट होना ही पड़ेगा। ईसा मर गये, बुद्धदेव चले गये और मुहम्मद साहब भी विलुप्त हो गए। संसार के सब बड़े-बड़े महापुरुष एवं आचार्यगण भी विलुप्त हो गए। भक्त कहते हैं कि इस क्षणस्थायी संसार में, जहाँ सब कुछ क्रमशः क्षय हो जाता है, हमें जितना भी समय मिले, उसीका सदुव्यवहार करना आवश्यक है। और

वास्तव में जीवन का प्रधान कार्य भी यही है कि उसे सब जीवों की सेवा में लगाया जाय। यह भयानक देहात्मबुद्धि ही संसार में एक प्रकार की स्वार्थपरता का मूल कारण है। हमारा यह बड़ा भारी भ्रम है कि अपने इस शरीर ही को हम हम समझते हैं और उसकी रक्षा करना और उसे सुखी रखना हम अपना कर्तव्य जानते हैं। अगर तुम निश्चय ही जानलो कि तुम इस शरीर से सम्पूर्णतया पृथक् हो तो इस संसार में ऐसा कुछ नहीं रह जाता, जिससे तुम्हारे विरोध का आभास भी हो। तब तुम सब प्रकार की स्वार्थपरता से परे हो जाओगे। इसीलिए भक्त कहता है, "संसार के सब पदार्थों के प्रति हमें मृतवत् रहना होगा" और यही वास्तविक आत्म-समर्पण है—शरणागति है। "तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो" इस वाक्य का अर्थ ही है—इस प्रकार का आत्म-समर्पण अथवा शरणागति। संसार में जीवन संग्राम करना चाहिए और साथ-ही-साथ सोचते रहना चाहिए कि भगवान की इच्छानुसार ही हमें दुर्बलता और सांसारिक आकांक्षा उत्पन्न होती है।

परन्तु उस पर निर्भर नहीं रहना चाहिए। हो सकता है कि हमारे स्वार्थपूर्ण कार्यों से भविष्य में हमारा मंगल हो। किन्तु इस विषय को भगवान जाने, हमें-तुम्हें इससे कोई वास्ता नहीं। स्वाभाविक भक्त अपने लिये कभी कोई इच्छा अथवा कार्य नहीं करता। "प्रभु! लोग तुम्हारे नाम पर बड़े बड़े मन्दिरों की स्थापना करते हैं, तुम्हारे नाम पर कितना ही दान कर डालते हैं, मैं दरिद्र

हूँ, अकिञ्चन हूँ। मैं अपने शरीर को ही आपके पाद पद्मों में समर्पित करता हूँ, हे प्रभु! हमें त्याग न देना।' यही प्रार्थना भगवत भक्त के गम्भीर हृदय प्रदेश से बार-बार उठती है, भगवान के लिये। जिन्होंने एक बार भी इस अवस्था का आस्वादन किया है, उनके लिये इसी प्रियतम प्रभु के चरणों में आत्म समर्पण, संसार के सारे धन, प्रभुत्व और मनुष्य जहाँ तक मान, यश, भोग, सुख की आशा कर सकता है, उस सबकी अपेक्षा आत्म समर्पण ही श्रेष्ठ प्रतीत होता है। भगवान पर निर्भरता से उत्पन्न हुई शान्ति हमारी बुद्धि से परे है, अमूल्य है। इस 'अप्रातिकूल्य' अवस्था को प्राप्त करने पर उसमें किसी प्रकार का स्वार्थ नहीं रहता और जब स्वार्थ ही नहीं रहता तो स्वार्थ हानिकारक इस संसार में क्या हो सकता है? इस परम निर्भरावस्था में सब प्रकार की आसक्ति सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाती है, केवल वही सब जीवों की अन्तरात्मा और आधार स्वरूप भगवान के प्रति सर्वा-वगाहिनी प्रेमात्मिका आसक्ति रह जाती है। भगवान के प्रति यह प्रेम का आकर्षण जीवात्मा के बन्धन का कारण नहीं होता वरन् वह उसके सारे बन्धन काटने में सहायक होता है।

परा विद्या और परा भक्ति एक ही है

उपनिषद् में परा और अपरा यह विद्या के दो विभाग मिलते हैं। और भक्त को इस परा विद्या और उसकी परा भक्ति में कोई अन्तर नहीं मिलता। मुण्डक उपनिषद् में लिखा है—"द्वेविद्ये वेदितव्ये इतिह्स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवा परा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षर मधिगम्यते।" अर्थात् 'ब्रह्मज्ञानी बतलाते हैं कि जानने के योग्य दो प्रकार की विद्यायें हैं, एक परा और दूसरी अपरा। इनमें अपरा विद्या है—ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, शिक्षा (उच्चारण, यति आदि की विद्या), कल्प (यज्ञपद्धति) व्याकरण, निरुक्त (वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति और शास्त्र द्वारा जो उनके अर्थ होते हैं।) छन्द और ज्योतिष। और परा विद्या वही है, जिसके द्वारा अक्षर ज्ञान हो। अतएव स्पष्ट देखा जा सकता है कि यह परा विद्या और ब्रह्मज्ञान एक ही पदार्थ हैं। देवी भागवत में हमें परा भक्ति के निम्न-लिखित लक्षण मिलते हैं:—"चेतसो वतनञ्चैव तैलधार समं सदा" अर्थात् 'जिस प्रकार तैल एक पात्र से दूसरे पात्र में उँड़ेलते समय एक अविच्छिन्न-

धारा में प्रवाहित होता है, उसी प्रकार मन जब अविछिन्न भाव से भगवान का स्मरण करता है, तो समझ लेना चाहिए कि परा भक्ति का उदय हो चुका है।" अविच्छिन्न आशक्ति से भगवान की ओर हृदय और मन की इस प्रकार की निरन्तर तथा नित्य स्थिरता मनुष्य के हृदय में सर्वोच्च भगवत् प्रेम का प्रकाश करती है। और सब प्रकार की भक्तियाँ केवल इस परा भक्ति तक पहुँचने की सीढ़ियाँ हैं। जब मनुष्य के हृदय में परानुराग उदय होता है तो उसका मन सर्वदा भगवान् का चिन्तन करता रहता है, और कुछ भी उसके स्मृति-पथ में नहीं आता। तब वह अपने मन में सिवाय ईश्वर चिन्तन के और किसी चिन्ता का प्रवेश नहीं होने देता। उसकी आत्मा एक अभेद्य पवित्रता के आवरण से ढक जाती है और मानसिक तथा भौतिक सब प्रकार के बन्धनों को काटकर वह शान्त तथा मुक्त भाव धारण कर लेता है। केवल इस प्रकार के लोग ही भगवान् की अपने अन्दर उपासना कर सकते हैं। उनके लिये अनुष्ठान-पद्धति, प्रतिमादिक, शास्त्र-कारों का मतामत सब अनावश्यक हो जाता है—इनसे उसका कोई उपकार नहीं होता। भगवान् को इस प्रकार प्रेम करना कोई सरल कार्य नहीं है। साधारण मानवीय प्रेम वहीं बढ़ता है, जहाँ उसे प्रतिदान मिलता है। जहाँ उसे प्रतिदान नहीं प्राप्त होता, वहाँ उदासीनता आकर उस प्रेम का स्थान ग्रहण कर लेती है। ऐसे विरले ही उदाहरण मिलेंगे, जहाँ बिना प्रतिदान मिले भी प्रेम विकसित होता रहे। हम इसकी अग्नि के प्रति पतंग

के प्रेम से तुलना कर सकते हैं। पतंग अग्नि को प्रेम करता है और उस पर आत्म समर्पण करके प्राण त्याग देता है। पतंग का स्वभाव ही है इस प्रकार प्रेम करना। संसार में जितने प्रकार का प्रेम पाया जाता है, उन सब में जो प्रेम ही के लिये प्रेम किया जाता है, वही सर्वोच्च है, पूर्ण निस्वार्थ प्रेम है। इस प्रकार का प्रेम अध्यात्मिकता रूपी भूमि से कार्य करना प्रारम्भ करता है और उसे परा भक्ति के उन्नत शिखर तक ले जाता है।

त्रिकोणात्मक प्रेम

प्रेम को हम एक त्रिकोण के रूप में प्रदर्शित कर सकते हैं, जिसके प्रत्येक कोंण से वह अविभाज्य स्वरूप प्रकाशित होता है। विना तीन कोन के कोई त्रिकोण नहीं होता है और प्रकृत प्रेम भी निम्न लिखित ३ लक्षणों के विना किसी प्रकार नहीं हो सकता। प्रेम स्वरूप इसी त्रिकोण का एक कोना यह है कि प्रेम में किसी प्रकार का भाव-ताव नहीं होता। जहाँ किसी प्रकार के प्रतिदान की आशा होती है, वहाँ प्रकृत प्रेम नहीं उत्पन्न हो सकता। वहाँ तो केवल दुकानदारी होती है। जव तक हमारी भगवान के प्रति भाव-ताव की भक्ति है और उनकी आज्ञा पालन करने के वदले उनसे किसी प्रकार की वर प्राप्ति की आकांक्षा रहती है, तव तक हमारे हृदय में प्रकृत प्रेम नहीं उत्पन्न हो सकता। जो लोग किसी प्राप्ति की आशा से भगवान की उपासना करते हैं, वे यदि वर प्राप्ति की आशा न रहे तो उसकी उपासना नहीं करेंगे। भक्त भगवान को प्रेम करता है, उनको प्रियतम मानकर प्रकृत भक्त इसी देववांछित प्रेमोछ्वास के लिये भगवान को प्रेम करता है। कथा है कि किसी समय एक वन में एक राजा से एक साधु की भेंट हुई। थोड़ी देर साधु से वातचीत

करते ही राजा को उसकी पवित्रता और ज्ञान का परिचय हो गया, जिससे उसे बड़ा संतोष मिला। और अन्त में उससे अनुरोध करने लगे कि हमें कृतार्थ करने के लिए हमसे कुछ ले लिजिए—ग्रहण कीजिए।" साधु ने अस्वीकार करते हुए कहा कि "वन के फल मेरे लिये भोजन पर्याप्त है, पर्वत निस्तृतसरित-जल पीने को पर्याप्त, वल्कल वसन पर्याप्त और जहाँ हम चाहते हैं, रहते हैं। मैं आपसे अथवा और किसी से कुछ क्यों लूँ?" राजा ने कहा—"कि प्रभु! मुझे अनुगृहीत करने के हेतु ही मेरे हाथ से कुछ लेलो और मेरे साथ राजधानी के राजमहलों को चलो।" बड़े अनुरोध करने पर उसने जाना स्वीकार किया और राजा के महल में गया। दान करने को उद्यत होने से पहले ही राजा बार-बार वर मांगने लगे, "प्रभु! मेरी सन्तान और बढ़े, मेरे कोष में अधिकाधिक धन-वृद्धि हो, हमारे राज्य का विस्तार बढ़े, हमारा शरीर नीरोग रहे इत्यादि।"

राजा ने अपनी याचना समाप्त भी न कर पाई थी कि साधु चुपचाप उठकर जाने लगा। हतबुद्धि होकर राजा उसके पीछे-पीछे चलने लगे और चिल्लाकर कहने लगे कि—"स्वामी! क्या आप चले जायँगे? क्या हमारा दान आप नहीं ग्रहण करेंगे?" साधु ने उनकी ओर देखकर कहा—"हे भिक्षुक! मैं भिक्षुक से भिक्षा नहीं ग्रहण करता। तुम खुद भिखारी हो। तुम मुझे क्या दोगे? मैं इतना मूर्ख नहीं हूँ कि तुम्हारी तरह भिखारी से भी भीख माँगू। जाओ, मेरे पीछे-पीछे मत आओ।" इस स्थल पर भिखा-

रियों और भगवान के वास्तविक प्रेमियों में भेद दिखलाया गया है। यही नहीं—मुक्ति लाभ के लिये भगवान की उपासना भी अधम उपासना है। प्रेम किसी प्रकार के लाभ को नहीं चाहता। प्रेम तो केवल प्रेम ही के हेतु होता है। भक्त भगवान को प्रेम करता है। क्योंकि वह उसे सिवाय प्रेम के और कुछ कर ही नहीं सकता। तुम एक सुन्दर प्राकृतिक दृश्य को देखकर उसे प्रेम करते हो। तुम उस दृश्य से किसी प्रकार की भिक्षा तो माँगते नहीं और वह दृश्य भी तुमसे कुछ नहीं माँगता। तथापि उसके दर्शनों से तुम्हारे हृदय में आनन्द होता है, वह तुम्हारे मन की अशान्ति को दूर कर देता है—वह तुम्हें शान्ति कर देता है ; एक क्षण के लिये यही सुन्दर दृश्य तुम्हें इस नश्वर प्रकृति से परे ले जाता है और एक प्रकार के स्वर्गीय आनन्द से तुम्हारा मन उत्फुल्ल कर देता है। प्रेम का यही भाव ऊपर बतलाये हुए त्रिकोणात्मक प्रेम का पहला कोना है। तुम प्रेम के बदले कुछ नहीं चाहते। तुमतो दाता हो। भगवान को तुम प्रेम दो ; किन्तु उनसे उसके बदले में कुछ माँगो मत।

प्रेम रूपी त्रिकोण का दूसरा कोना यह है कि प्रेम में किसी प्रकार का भय नहीं। जो भयाभिभूत होकर भगवान को प्रेम करते हैं, वे अधम मनुष्य होते हैं। अब भी उनमें मनुष्यत्व प्रस्फुटित नहीं हुआ है। वे दण्ड के भय से ईश्वर को प्रेम करते हैं। वे मन में सोचते हैं कि वह ईश्वर एक बड़ा आदमी (महापुरुष) है उसके एक हाथ में दण्ड है, एक हाथ में चाबुक, उसकी आज्ञा

पालन न करने से हमें दण्डित होना पड़ेगा। इस दण्ड के भय से भगवान की उपासना अत्यन्त नीच श्रेणी की उपासना कही गई है। ऐसी उपासना का नाम यदि उपासना रखते हैं तो भी यह प्रेम की अत्यन्त अपरिणित अवस्था मात्र है। जब तक हृदय में किसी प्रकार का भय रहता है, तब तक उसमें प्रेम के रहने की सम्भावना कहाँ ? प्रेम स्वभावतः सारे भय का नाश करके फेंकता है।

मान लो कि एक तरुणी जननी रास्ते पर जा रही है। एक कुत्ता उस पर भूकने लगता है और वह निकटवर्ती घर में घुस जाती है। किन्तु यदि उसका बच्चा उसके साथ हो और एक सिंह भी उस बच्चे पर झपटे, तो क्या माँ कहीं भागने अथवा छिपने का प्रयत्न करेगी ? अवश्य ही वह उस समय सिंह के मुँह में समा जायगी। अस्तु, प्रेम वास्तव में सारे भय का नाश कर देता है। 'जगत का सम्पर्क नष्ट हो जाता है' इस प्रकार के स्वार्थपर भावों से भय उत्पन्न होता है। हम अपने को जितना क्षुद्र और स्वार्थी बनायेंगे, उतना ही हममें भय अधिक बढ़ जायगा। यदि कोई विचारता है कि 'मैं कुछ नहीं हूँ' तो उसे निश्चय ही भय प्रतीत न होगा। और तुम अपने को जितना कम क्षुद्र समझोगे, उतना ही कम तुम्हारा भय होता जायगा। जब तक तुम में एक बूँद भी भय का रहेगा तब तक तुम वास्तविक प्रेम नहीं कर सकते। प्रेम और भय यह दोनों विपरीत भावापन्न हैं। जो भगवान को प्रेम करते हैं, वे उससे कभी नहीं डरते। प्रकृत भगवत् प्रेमी,

"भगवान का नाम व्यर्थ मत ले।" यह सुनकर हँसने लगते हैं। प्रेम-धर्म में भगवान् की निन्दा का स्थान कहाँ? चाहे जिस प्रकार तुम प्रभु का नाम जितना ही ले सकते हो, उतना ही तुम्हारा मंगल होगा। तुम उसे प्रेम करते हो तभी तो तुम उसका नाम लेते हो।

प्रेम रूपी त्रिकोण का तीसरा कोना यह है कि प्रेमिक के कोई दो प्रिय नहीं हो सकते, क्योंकि यही तो प्रेमिकों का सर्वोच्च आदर्श होता है। जब तक हमारा प्रेम का पात्र ही हमारा सर्वोच्च आदर्श नहीं हो जाता, तब तक प्रकृत प्रेम नहीं उत्पन्न होता। हो सकता है कि अनेकों स्थलों में मनुष्य का प्रेम खराबी की ओर प्रयुक्त किया गया हो, किन्तु प्रेमिक के लिए उसकी प्रिय वस्तु ही उसका सर्वोच्च आदर्श होता है। कोई मनुष्य किसी कुत्सित व्यक्ति में ही अपना यह उच्च आदर्श पाते हैं और कोई-कोई भले व्यक्ति में; परन्तु सर्वत्र ही केवल आदर्श ही के प्रति प्रकृत प्रगाढ़ प्रेम होता है। प्रत्येक व्यक्ति के उच्चतम आदर्श को ही उसका ईश्वर कहते हैं। अज्ञानी हो या ज्ञानी, साधु हो अथवा पापी, नर हो या नारी, शिक्षित हो अथवा अशिक्षित, सब मनुष्यों का उच्चतम आदर्श ही ईश्वर है। सारे सौंदर्य, महत्त्व और शक्ति के उच्चतम आदर्श समूह की समष्टि करने से प्रेममय और प्रियतम भगवान का पूर्ण भाव पाया जाता है। ये आदर्श प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में स्वभावतः किसी-न-किसी रूप में वर्तमान रहते हैं।

यही आदर्श हमारे मन के अंग अथवा अंश विशेष हैं। मनुष्य प्रकृति में जो सारी क्रियाओं का विकास पाया जाता है, वह सब आदर्शों को व्यवहारिक जीवन आचरण में परिणित करने की चेष्टा स्वरूप है। हम अपने चारों ओर जो समाज में नाना प्रकार के व्यापार तथा आन्दोलन देखते हैं, वे सब भिन्न-भिन्न आत्माओं के विभिन्न आदर्शों को कार्यरूप में परिणित करने की चेष्टा के फल हैं। जो भीतर है, वही बाहर निकलने की चेष्टा करेगा। मनुष्य के हृदय में आदर्श का यह चिर-प्रबल प्रभाव ही वही एकमात्र सर्वनियन्त्री महाशक्ति है, जिसकी क्रिया मानव जाति में नियत रूप से वर्तमान रहती है। हो सकता है कि सौ जन्म, हज़ारों वर्षों की चेष्टा के बाद मनुष्य समझे कि हमारे अन्तरथिस्त आदर्श बाहर की अवस्थाओं से सम्पूर्णतया सहमत नहीं हो सकते, और यह समझकर वह वहिंजगत को अपने आदर्श के अनुसार बनाने की चेष्टा का परित्याग करदे और अपने आदर्श को उसी उच्चतम प्रेमभूमि में अपने आदर्श के रूप में उपासना करे। सब छोटे-छोटे आदर्श इसी पूर्ण आदर्श के अन्तर्गत हैं। कहा जाता है और सबलोग इस कथन की सत्यता को स्वीकार करते हैं कि "यार संग है यार मजेमन, वह है ब्राह्मण या है डोम।" और लोग कहेंगे कि यहाँ तो प्रेम को अपात्र को दे डाला है; परन्तु जो प्रेमिक है, वह ब्राह्मण अथवा डोम नहीं देखते, वे तो उन्हें राजा-रानी समझते हैं। चाहे वह ब्राह्मण अथवा डोम हो, चाहे राजा-रानी हो। प्रकृत पक्ष में हमारे प्रेम के आधार-

स्वरूप केन्द्र विशेष वही है, जिसके चारों ओर आदर्श घनीभूत होते रहते हैं। संसार साधारणतः किसकी उपासना करता है? भक्त और प्रेमिक के सर्वावगाही इस उच्चतम आदर्श की? नहीं— लोग प्रायः अपने हृदयाभ्यन्तरीण आदर्श की उपासना करते हैं। प्रत्येक पुरुप अपने आदर्श को वाहर निकालकर उसके सन्मुख बैठकर उसे प्रणाम करता है। इसीलिए हम देखते हैं कि जो स्वयं निष्ठुर और रक्तपिपासु होते हैं, वे केवल रक्त पिपासु ईश्वर की उपासना करते हैं; क्योंकि वे अपने ही उच्चतम आदर्श को प्रेम करते हैं। इसी कारण से साधु पुरुष का ईश्वरीय आदर्श अत्यन्त ऊँचा होता है और उनका आदर्श दूसरे व्यक्तियों के आदर्श से बिलकुल अलग।

प्रेम के भगवान स्वतः प्रमाणित हैं।

जो प्रेमिक व्यक्ति स्वार्थपरता और फलाकांक्षा शून्य होते हैं और जिन्हें किसी प्रकार का भय नहीं रहता, उनका आदर्श क्या होता है? महा महिमावान् ईश्वर से भी वे यही कहते हैं कि—"मैं तुमको अपना सर्वस्व दूँगा। तुमसे मैं कुछ भी नहीं चाहता। वास्तव में ऐसा कुछ है ही नहीं, जिसे मैं 'अपना' कह सकूँ।" जब मनुष्य इस प्रकार की अवस्था को प्राप्त हो जाता है, तब उसका आदर्शपूर्ण प्रेम हो जाता है और वह प्रेम जनितपूर्ण निर्भीकता के आदर्श में परिणित हो जाता है। इस प्रकार के पुरुष के सर्वोच्च आदर्श में किसी प्रकार की विशेषत्व रूपी सङ्कीर्णता नहीं रहती। वह सार्वभौमिक प्रेम, अनन्त और असीम प्रेम-प्रेमस्वरूप अथवा पूर्ण स्वतंत्र प्रेम का आकार धारण करता है। तब प्रेम धर्म के इस महान आदर्श में किसी प्रकार की प्रतीक अथवा प्रतिमा की सहायता न लेकर वह उसी के रूप में उसकी उपासना करता है। यही उत्कृष्ट परा-भक्ति है—एक सार्वभौमिक आदर्श को आदर्श मानकर उसकी उपासना करना। और सब प्रकार की भक्ति इस भक्ति तक पहुँचने की सीढ़ियाँ हैं। इस प्रेमरूपी धर्म पथ पर चलते-चलते

हम जो कुछ सिद्धि अथवा असिद्धि प्राप्त करते हैं, वह सब उसी एक आदर्श प्राप्ति के लिये अर्थात् दूसरे प्रकार से उसकी प्राप्ति में सहायक होते हैं। एक के बाद दूसरी वस्तु मिलती जाती है और हमारा अभ्यन्तरवर्ती आदर्श उनके ऊपर प्रक्षिप्त होता रहता है। क्रमशः यह सब बाह्य वस्तुएँ उसी क्रमविस्तार शील अभ्यन्तरीण आदर्श के लिए अनुपयुक्त हो जाती हैं और स्वभावतः एक के बाद दूसरी छूटती जाती हैं, अन्त में साधक समझ लेता है कि बाह्य वस्तु द्वारा आदर्श की उपलब्धि की चेष्टा वृथा है, आदर्श की तुलना में सब बाह्य वस्तुएँ तुच्छ हैं। कालान्तर में वह उस सर्वोच्च और सम्पूर्ण निर्विशेषभावपन्न सूक्ष्म आदर्श को सम्पूर्ण रूप से अपना लेता है और सत्य भाव से उसके अनुभव करने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। जब भक्त इस अवस्था को पहुँच जाता है, तो भगवान को प्रमाणित किया जा सकता है कि नहीं, वे सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान् हैं कि नहीं? ये सब प्रश्न उसके हृदय में नहीं उठते। उसके लिये भगवान् प्रेममय हैं, वे प्रेम के सर्वोच्च आदर्श हैं, यही भाव यथेष्ट हो जाता है। भगवान् प्रेम रूप होने से स्वतः सिद्ध हैं—और प्रमाण होने की उसे कोई आवश्यकता नहीं।

अन्यान्य धर्मों के विचारों से भगवान को प्रमाणित करने के लिये अनेकों प्रमाणों की आवश्यकता है; परन्तु भक्त अपने भगवान के प्रति इस प्रकार धारणा नहीं कर सकता और करता भी नहीं। उसके लिये भगवान केवल प्रेम रूप में वर्तमान रहते

हैं। "कोई भी पति को पति के लिये प्रेम नहीं करता, पति की अन्तरवर्ती आत्मा के लिये स्त्री पति को प्रेम करती है। कोई पत्नी को पत्नी के लिये नहीं प्यार करता, वरन् उसकी अन्तरस्थायी आत्मा के लिये ही वह प्रिया होती है।" कोई कोई कहते हैं— "मनुष्य के सब प्रकार के कार्यों की मूल है स्वार्थपरता।" हमारी राय में वह भी प्रेम ही है केवल विशिष्टता हो जाने से वह निम्न-भावापन्न है। जब हम अपने को संसार की सब वस्तुओं में अवस्थित पाते हैं, तब निश्चय ही हम में स्वार्थपरता नहीं रह सकती। किन्तु जब हम भ्रमवश अपने मन को क्षुद्र कर डालते हैं, तो हमारा प्रेम सङ्कीर्ण होकर विशेष भाव धारणकर लेता है। प्रेम के विषय को सङ्कीर्ण और सीमाबद्ध करना ही हमारा भ्रम है। इस संसार की सारी वस्तुएँ भगवान ही की पैदा की हुई हैं, अतएव वे प्रेम के योग्य है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि समष्टि को प्रेम करने से उसके अंशों के प्रति भी प्रेम होता है। यह समष्टि ही भक्त के भगवान हैं। और अन्यान्य प्रकार के ईश्वर—स्वर्गस्थपिता, शास्ता, स्रष्टा, नाना प्रकार के मतामत, शास्त्रादि भक्त के लिये निरर्थक हैं, उसके लिये इनका कोई प्रयोजन नहीं। क्योंकि पराभक्ति के प्रभाव से वे इस सबके ऊपर उठ चुके हैं। जब अन्तर शुद्ध होता है, पवित्रता और ऐश्वरिक प्रेमामृत से परिपूर्ण होता है, तो अन्य सब प्रकार की ईश्वर धारणा लड़कपन, असम्पूर्ण, अथवा अनुपयुक्त जान पड़ती है और छूट जाती है। वास्तविक पराभक्ति का प्रभाव ही ऐसा है। उस समय वही व्या-

वस्था में पहुँचा हुआ भक्त अपने भगवान को मन्दिरों आदि में नहीं खोजता फिरता, उसे कोई ऐसा स्थान ही नहीं दीखता जहाँ वे नहीं। वह उन्हें मन्दिर में, मन्दिर के बाहर सर्वत्र देखता है। वह उन्हें साधु की साधुता में तथा पापी के पाप में भी देखता है। इसका कारण यह है कि वह पहले ही से उन्हें नित्य दीप्तमान नित्य वर्तमान, सर्व शक्तिमान, अनिर्वाण प्रेम ज्योतिरूप में अपने हृदय के अन्दर विराजमान देखता है।

मनुष्य की भाषा में भगवत्प्रेम का वर्णन

मनुष्य की भाषा में प्रेम के सबसे ऊँचे और पूर्ण आदर्श का परिचय देना संभव नहीं। ऊँची से ऊँची मनुष्य की कल्पना भी इसकी अनन्त पूर्णता और सौंदर्य का अनुभव नहीं कर सकती तो भी सब देशों के प्रेम-धर्म की नीची और ऊँची दोनों अवस्थाओं के उपासकों को अपने प्रेम के आदर्श का अनुभव और उसका लक्षण ठीक करने में सदा इसी अनुपयुक्त अथवा असमर्थ मनुष्य-भाषा का व्यवहार करना पड़ा है। केवल यही नहीं, भिन्न-भिन्न प्रकार का मानवीय प्रेम ही इस अव्यक्त भगवत्प्रेम के प्रतीक के रूप में लिया गया है। मनुष्य, ईश्वर से संबंध रखनेवाले विषयों को मानवीय भाव से ही प्रकट कर सकता है—हमारे निकट वह पूर्ण केवल हमारी आपेक्षिक भाषा में प्रकाशित हो सकता है। यह सारा जगत् हमारे निकट क्या है? यही कि अनन्त जैसे केवल सान्त भाषा में लिखा हुआ है। इसी कारण भक्त लोग भगवान् और उनके प्रेम की उपासना के विषय में लौकिक प्रेम के लौकिक शब्दों का व्यवहार किया करते हैं। कुछ परा-भक्ति की व्याख्या करनेवालों ने इस पराभक्ति को नीचे लिखे हुए विभिन्न उपायों से समझने और

उसका प्रत्यक्ष अनुभव करने की चेष्टा की है। इनमें से सबसे नीची अवस्था को शान्त भक्ति कहते हैं। जब मनुष्य के हृदय में प्रेम की आग नहीं जली होती, जब उसकी बुद्धि प्रेम की उन्मत्तता में अपने को खो नहीं देती, ये बाहरी क्रिया-कलाप बाहरी भक्ति कुछ उन्नत सीधे सादे ढंग के प्रेम का केवल उदय हुआ होता है, जब वह तीव्र वेग से युक्त प्रेम की उन्मत्तता के लक्षण से लक्षित नहीं हुआ होता, तब इस भाव से भगवान् की उपासना को शान्त भक्ति या शान्त प्रेम कहते हैं। हम देखते हैं, जगत् में कुछ ऐसे लोग हैं, जो धीरे-धीरे साधना की राह में आगे बढ़ना पसंद करते हैं। और कुछ ऐसे भी लोग हैं, जो आँधी की तरह तेजी से इस मार्ग में चले जाते हैं। शान्त भक्त धीर, शान्त और नम्र होता है। उससे कुछ ही ऊँची अवस्था दास्य भाव की है। इस अवस्था में मनुष्य अपने को ईश्वर का दास समझता है। विश्वासी सेवक की प्रभु-भक्ति ही उसका आदर्श होता है।

इसके बाद सख्य-प्रेम का नम्बर है। इस सख्य-प्रेम के साधक भक्त भगवान् से कहा करते हैं—"तुम हमारे प्रिय बंधु हो!" ("त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव"—पांडव गीता)। जैसे मनुष्य अपने मित्र के आगे अपना हृदय खोलकर रख देता है, जानता है कि मित्र उसके दोष के लिये कभी उसका तिरस्कार नहीं करेगा, बल्कि उसकी भलाई और हित की ही चेष्टा करेगा—दोनों बंधुओं में जैसे एक बराबरी का भाव रहता है, वैसे ही

इस तरह के सख्य प्रेम के साधक और उनके सखारूप भगवान् में जैसे एक तरह का बराबरी का भाव रहता है। सुतराम् भगवान् हमारे हृदय के बहुत ही निकटवर्ती मित्र हुए—उस मित्र के आगे हम अपने जीवन की सब बातें खोलकर कह सकते हैं, अपने हृदय की तह में छिपे हुए सब गुप्त भावों को उन्हें जता सकते हैं। हमें पूरा भरोसा है कि जिसमें हमारा मंगल होगा, भगवान् वही करेंगे। यह सोचकर हम पूरी तरह से निश्चिन्त हो सकते हैं। इस अवस्था में भक्त भगवान् को अपने समान समझता है—भगवान् जैसे हमारे खेल के साथी हैं, हम सब इस जगत् में जैसे खिलवाड़ कर रहे हैं। जैसे लड़के खेलते हैं, जैसे महा यशस्वी बड़े राजा-महाराजा भी अपना खेल खेलते हैं, वैसे ही वह प्रेम के आधार प्रभु भी आप जगत् के साथ खेल खेल रहे हैं। वह पूर्ण हैं—उनके किसी बात की कमी नहीं है। फिर उनके सृष्टि करने की आवश्यकता क्या है ? हम जो काम करते हैं तो उसका उद्देश्य किसी न किसी अभाव की पूर्ति करना ही होता है। और अभाव या कमी का अर्थ ही असंपूर्णता है। भगवान् पूर्ण हैं—उनके कोई अभाव नहीं है। फिर वह क्यों बारबार कर्ममय सृष्टि में लगे हुए हैं ? उनका क्या उद्देश्य है ? भगवान् की सृष्टि के उद्देश्य के बारे में हम जिन कथाओं की कल्पना करते हैं, वे क़िस्से कहानी के हिसाब से सुंदर हो सकती हैं, उनका और कोई मूल्य नहीं है। वास्तव में यह सभी उनका खेल है। यह जगत् उनका खेल है—यह खेल बराबर

चल रहा है। उनके लिये यह सारा जगत् निश्चय ही एक मजे का खेल घर है। अगर तुम बिल्कुल ग़रीब हो, तो अपनी उस ग़रीबी को ही एक बड़ा भारी तमाशा या खेल समझो; और अगर बड़े आदमी हो तो उस अमीरी को भी एक खेल समझकर ही उसका उपभोग करो। विपत्ति आवे तो वही एक सुंदर तमाशा है और सुख मिले तो समझो, वह भी एक ख़ासा खेल है। यह जगत् केवल क्रीड़ा-क्षेत्र है—हम यहाँ खूब अच्छी तरह से मज़ा उड़ाते हैं—जैसे खेल हो रहा है, और भगवान् सदा खेल खेल रहे हैं, हम भी उनके साथ खेलते हैं। हमारे भगवान् अनन्त काल के खिलाड़ी हैं। अनन्त काल के खेल के साथी हैं। कैसा सुंदर खेल, खेल रहे हैं। खेल ख़तम हुआ, एक युग समाप्त हुआ, उसके बाद थोड़े बहुत समय के लिए विश्राम उसके बाद फिर खेल शुरू फिर जगत् की सृष्टि! तुम जब यह भूल जाते हो कि यह सब खेल है और तुम भी इस खेल के सहायक हो, तभी केवल तभी दुःख और कष्ट आकर उपस्थित होता है। तभी हृदय पर एक भारी बोझ आ पड़ता है और संसार अपने भारी बोझ के साथ तुम्हारे सिर पर चढ़ बैठता है। किन्तु जब तुम इस दो घड़ी के जीवन की परिवर्तनशील घटनावली को सत्य समझना छोड़ देते हो—जब संसार को क्रीड़ा की रंगभूमि और अपने को ईश्वर की क्रीड़ा का सहायक समझने लगोगे, वैसे ही तुम्हारा सारा दुःख दूर हो जायगा। प्रत्येक अणु में उन्हीं भगवान् का खेल नज़र आता है। वह खेलते-खेलते पृथ्वी, सूर्य,

चंद्र आदि की रचना करते हैं। वह मनुष्य के हृदय, प्राणियों और उद्भिदों के साथ क्रीड़ा करते हैं। हम उनकी शतरंज के मोहरे हैं। वह सबको एक बिसात में बिठाकर चलाते हैं। वह हमें पहले एक ओर फिर दूसरी ओर बिठाते हैं—हम भी जानकर या बिना जाने उनकी क्रीड़ा के सहायक हैं। अहो, कैसा आनन्द है! हम उनकी क्रीड़ा के सहायक हैं!

इसके बाद की अवस्था को वात्सल्य-प्रेम कहते हैं। इसमें भगवान् को पिता न समझकर सन्तान समझना होता है। यह कुछ नये ढंग का जान पड़ सकता है; किन्तु इसका उद्देश्य है हमारी भगवान् की धारणा से ऐश्वर्य के सब भावों को दूर करना। ऐश्वर्य के अन के साथ भय रहता है। किन्तु प्रेम में—प्यार में भय न रहना चाहिए। चरित्रगठन के लिए भक्ति और आज्ञा-पालन का अभ्यास आवश्यक अवश्य है; लेकिन एकबार चरित्र गठित होने पर जब प्रेमिक शान्त प्रेम का थोड़ा सा स्वाद पाता है, और प्रेम की तीव उन्मत्तता का भी कुछ स्वाद पाता है, तब फिर नीति शास्त्र और साधन-नियम आदि का कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता। प्रेमिक कहता है, भगवान् को महामहिम, ऐश्वर्यशाली, जगन्नाथ, देवाधिदेव के रूप में देखने की मेरी इच्छा नहीं होती। भगवान् की धारणा से इस भय उत्पन्न करनेवाले ऐश्वर्य के भाव को भगाने के लिए वह भगवान् को सन्तान के रूप में प्रेम करता है। मा-बाप लड़के से डरते नहीं। लड़के के ऊपर उनकी भक्ति भी नहीं होती। उनके लिए लड़के से कुछ प्रार्थना करने को भी नहीं

रहता। लड़का ही सदा उनसे माँगने का अधिकार रखता है। सन्तान के ऊपर प्रेम के कारण मा-बाप सौ सौवार प्राण त्याग करने को तैयार रहते हैं। जिन सब संप्रदायों में भगवान् अवतार लेते हैं, जो लोग अवतार पर विश्वास करते हैं, उन्हीं में यह वात्सल्य भाव की उपासना स्वाभाविक है। मुसलमान भाइयों के लिए भगवान् को इस तरह सन्तान के रूप में देखना महा कठिन है। वे भय के मारे इस भाव से दूर रहते हैं। किन्तु ईसाई और हिन्दू सहज में ही उसे समझ सकते हैं। कारण उनके बालक ईसा और कृष्ण मौजूद हैं। भारतीय नारियाँ अक्सर अपने को श्रीकृष्ण की माता के रूप में अनुभव करती हैं। ईसाई माताएँ भी अपने को ईसा की माता विचार सकती हैं। इससे पाश्चात्य देशों में ईश्वर के मातृभाव का ज्ञान आवेगा और इसकी उनके लिए खास तौर पर जरूरत है। भगवान् के प्रति भय-भक्ति रूप यह कुसंस्कार हमारे हृदय की तह में जड़ जमाये हुए हैं। भगवत्सम्बन्धी यह भय-भक्ति ऐश्वर्य महिमा का अब इस प्रेम के भीतर एकदम डुबा देने में बहुत समय लगता है।

मनुष्य ने इस ईश्वर के आदर्श को और एक तरह से प्रकट किया है। इसका नाम है मधुर, और यही सब प्रकार के प्रेमों में सर्वश्रेष्ठ है। जगत् के सर्वोच्चप्रेम के ऊपर इसकी नींव है और मानवीय प्रेम में यही सबसे प्रबलतम है। स्त्री पुरुष का प्रेम जैसे मनुष्य की सारी प्रकृति को उलट-पलट डालता है, वैसा क्या और कोई प्रेम कर सकता है? कौन प्रेम मनुष्य के प्रति परमाणु

के भीतर संचारित होकर उसे पागल बना देता है—अपनी प्रकृति को भुला देता है—मनुष्य को देवता अथवा पशु बना देता है ? इस मधुर प्रेम में भगवान् को हम पति के रूप में देखते हैं। हम सभी स्त्री हैं। जगत् में और कोई पुरुष नहीं है। केवल एकमात्र भगवान् ही पुरुष हैं—वही, हमारे सब प्रेमों का आधार एकमात्र पुरुष है। पुरुष स्त्री को और स्त्री पुरुष को जिस प्रेम से प्यार करती है, वही प्रेम भगवान् को अर्पण करना होगा। हम इस जगत् में जितने प्रकार के प्रेम देख पाते हैं, जिन्हें लेकर हम थोड़ी बहुत क्रीड़ा करते हैं, उनका एकमात्र लक्ष्य भगवान् ही हैं। पर दुःख की बात है कि जिस अनन्त समुद्र की ओर महा-प्रेम की नदी सदा बहती है, उसे मानव नहीं जानता, अतएव मूर्ख की तरह वह मनुष्य रूप क्षुद्र मिट्टी के खिलौनों पर उसका प्रयोग करने की चेष्टा करता है। मनुष्य की प्रकृति में सन्तान के प्रति जो प्रबल स्नेह देखा जाता है, वह केवल एक सन्तानरूप क्षुद्र खिलौने के लिए नहीं है। अगर तुम अंधभाव से एकमात्र सन्तान के ऊपर उसका प्रयोग करोगे तो उसके लिए तुमको विशेष भोगना पड़ेगा ; किन्तु इस दुःख भोग से ही तुम्हें यह ज्ञान प्राप्त होगा कि तुम्हारे भीतर जो प्रेम है, उसका प्रयोग अगर किसी मनुष्य पर करोगे तो चाहे जल्दी हो चाहे देर में, वह तुम्हारे जीवन में अवश्य अशान्ति पैदा कर देगा। अतएव हमें अपने प्रेम का प्रयोग उस पुरुषोत्तम के ऊपर ही करना चाहिए, जिसका न विनाश है, न कभी कोई परिवर्तन है—जिनके प्रेमसागर में

ज्वार-भाटा नहीं है। हमें ख्याल रखना चाहिए कि प्रेम अपने ठीक लक्ष्य पर पहुँचे, उनके निकट पहुँचे, जो यथार्थ में प्रेम के अनन्त समुद्र-स्वरूप हैं। एक पानी का बूँद तक पर्वत से गिरकर केवल एक नदी में (वह चाहे जितनी बड़ी हो) थम नहीं सकता। अंत को वह जलबिंदु किसी न किसी तरह समु में पहुँच जाता है। भगवान् ही हमारे सब प्रकार के भावों के एक-मात्र लक्ष्य हैं। अगर ख्फा होना चाहते हो तो भगवान् पर ख्फा होओ अपने प्रेमास्पद को धमकाओ अपने सखा को धमकाओ। और किसे तुम बेखटके तिरस्कार कर सकते हो? मर्त्य-जीव तो तुम्हारे क्रोध को बर्दाश्त नहीं करेगा। उससे तुम्हारे ऊपर उस क्रोध की प्रतिक्रिया आवेगी अगर तुम मुझपर क्रोध करो, तो मैं भी अवश्य ही तुमपर क्रुद्ध हो उठूँगा—मैं तुम्हारे क्रोध को सह नहीं सकूँगा। अपने प्रेमपात्र से कहो, तुम मेरे पास क्यों नहीं आते? क्यों मुझे अकेला डाल रक्खा है? उसके सिवा और काहे में आनंद है। छोटी छोटी मिट्टी की ढेरियों में क्या सुख है? अनंत आनंद के ठोस सारांश को ही हमें खोजना होगा—भगवान् ही वह ठोस आनंद हैं। हमारी प्रवृत्ति, भाव आदि सभी जैसे उनके समीप जाय। वे सब उन्हीं के लिए अभिप्रेत हैं। वे अगर लक्ष्य भ्रष्ट हुए, तो कुत्सित रूप धारण करेंगे। जब वे ठीक अपने लक्ष्यस्थल अर्थात् ईश्वर के निकट पहुँचते हैं, तब बहुत नीची से नीची हमारी वृत्ति तक और ही रूप धारण कर लेती है। मनुष्य का मन और शरीर की सारी

शक्ति—वह चाहे जिस भाव से प्रकाशित क्यों न हो, उसका एकमात्र लक्ष्य, एकमात्र स्थान भगवान् ही हैं। मनुष्य के हृदय का सब प्यार—सब प्रवृत्तियाँ भगवान् ही की ओर जानी चाहिए। वही एकमात्र प्रेम के पात्र हैं। यह मनुष्य का हृदय और किसे प्यार करेगा? वह परम सुंदर हैं, परम महत् हैं, सौंदर्य-स्वरूप हैं, महत्त्वस्वरूप हैं। उनसे बढ़कर इस जगत् में और कौन सुंदर है? उनके सिवा इस जगत् का स्वामी होने के लायक़ और कौन है? प्यार के योग्य पात्र और कौन है? इस लिए, वही हमारे स्वामी हों, वही हमारे प्रेमपात्र हों। अक्सर ऐसा होता है कि भगवान् के भक्तगण इस भगवत्प्रेम का वर्णन करते समय सब प्रकार की मानवीय-प्रेम की भाषा को इसका वर्णन करने के लिए उपयोगी समझकर उसका सहारा लेते हैं। मूर्ख लोग यह समझते नहीं, वे कभी इसे समझ नहीं सकेंगे। वे इसे केवल जड़-दृष्टि से देखते हैं। वे इस आध्यात्मिक प्रेमोन्मत्तता को समझ नहीं सकते। कैसे समझ सकें? "हे प्रियतम, तुम्हारे अधर का एकमात्र चुंबन, जिसे एकबार तुमने चुंबन किया है, उसके लिए उसकी प्यास बढ़ती ही रहती है। उसका सब दुःख दूर हो जाता है। वह तुम्हारे सिवा और सबको भूल जाता है।"* प्रियतम के

---

* सुरतवर्द्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्।
इतररागविस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्॥
श्रीमद्भागवत। १० स्कंध। ३१ अध्याय। १४ श्लो०

उस चुंबन, उनके अधर के उस संस्पर्श के लिए व्याकुल होओ—जो भक्त को पागल कर देता है, जो मनुष्य को देवता बना देता है। भगवान् ने जिसे अपना वह अधरामृत एकबार पिलाकर कृतार्थ कर दिया है, उसकी सारी प्रकृति बदल जाती है। उसके लिए यह जगत् गायब हो जाता है, उसके लिए फिर सूर्यचंद्र का अस्तित्व नहीं रहता। उसके लिए सभी जगत्प्रपंच उसी एक अनन्त प्रेम-समुद्र में डूब जाता है। यही प्रेमोन्मत्तता की चरम अवस्था है। सच्चा भगवत्प्रेमी किन्तु इससे भी सन्तुष्ट नहीं होता। स्वामी-स्त्री का प्रेम भी उसकी दृष्टि में उतना पागल बना देनेवाला नहीं है। भक्त लोग अवैध (परकीया) प्रेम के भाव को ग्रहण किया करते हैं; क्योंकि वह अत्यन्त प्रबल होता है। उसका अवैध (नाजायज़) होना उनका लक्ष्य नहीं है। इस प्रेम की प्रवृत्ति यह है कि वह जितनी रुकावट पाता है, उतना ही उग्र भाव धारण करता है। स्वामी-स्त्री के प्रेम में कोई बाधा नहीं है, विघ्न नहीं है। इसीलिए भक्त लोग कल्पना करते हैं, जैसे कोई बालिका अपने प्रियतम पुरुष में आसक्त है और उसके पिता, माता या स्वामी-प्रेम के विरोधी हैं। जितना ही यह प्रेम बाधा को प्राप्त होता है, उतना ही वह प्रबल होता जाता है। श्रीकृष्ण वृन्दावन में किस तरह लीला करते थे, किस तरह सब उन्हें उन्मत्त होकर प्यार करते थे, किस तरह उनकी बंसी सुनकर गोपियाँ—वे भाग्यवती गोपियाँ सब कुछ भूलकर, सारे जगत् को भूलकर, जगत् के सब बंधन, सब कर्त्तव्य, जगत् के सब सुख-दुःख भूलकर

उनसे मिलने दौड़ी जाती थीं, मनुष्य की भाषा यह प्रकट करने में असमर्थ है। मनुष्य, मनुष्य, तुम ईश्वर-प्रेम की चर्चा करो, और जगत् के सब भ्रमात्मक विषयों में—जगत् के भ्रम जाल में ही पड़े रहोगे ? तुम्हारा क्या मनमुख एक है ? "जहाँ राम हैं, वहाँ काम है ; वहाँ राम नहीं रह सकते।"* दोनो एकत्र कभी नहीं रह सकते—प्रकाश और अंधकार एक जगह नहीं रह सकता।

---

* जहाँ राम वहाँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।
(तुलसी दोहावली)

उपसंहार

जब प्रेम इस उच्चतम आदर्श तक पहुँच जाता है, तब ज्ञान न जाने कहाँ चला जाता है। तब कौन ज्ञान के लिये व्यस्त होगा? मुक्ति, उद्धार होना, निर्वाण यह सब तब न जाने कहाँ चला जाता है! इस ईश्वर प्रेम के आनंद का उपभोग करने को मिले तो कौन मुक्त होना चाहेगा? "भगवन्, मैं धन, जन, सौन्दर्य, विद्या, यहाँ तक कि मुक्ति भी नहीं चाहता। जन्म-जन्म में तुम्हारी निःस्वार्थ अहेतुकी भक्ति ही मैं पाऊँ।" भक्त कहता है, "चीनी होना अच्छा नहीं है, मैं चीनी खाना पसंद करता हूँ।" तब कौन भक्त होने की इच्छा करेगा? कौन भगवान् के साथ अभेद भाव की आकांक्षा करेगा? भक्त कहता है—"मैं जानता हूँ, वह और मैं एक हूँ; किन्तु, तो भी मैं अपने को उनसे अलग रखकर प्रियतम का उपभोग करूँगा।" प्रेम के लिये प्रेम, यही उसका सर्वश्रेष्ठ सुख है। प्रियतम का उपभोग करने के लिये कौन हज़ार बार संसार-बँधन में बँधेगा? कोई भी भक्त प्रेम के सिवा और कोई वस्तु नहीं चाहता। वह स्वयं प्रेम करना चाहता है और चाहता है कि भगवान् भी उसको प्रेम करें। उसका निष्काम-प्रेम बहाव काटकर जाता है। प्रेमिक जैसे नदी के उद्-

गम की ओर—प्रवाह को काटकर जाना चाहता है। दुनिया उसे पागल कहती है। मैं जानता हूँ, एक आदमी को लोग पागल कहते थे। वह जवाब देता था—"मित्रो, यह सारा जगत् एक पागलखाना है। कोई सांसारिक प्रेम में पागल है। कोई नाम के लिये, कोई यश के लिये, कोई धन के लिये और कोई मुक्ति या स्वर्ग के लिये पागल है। इस विराट पागलखाने में मैं भी पागल हूँ। मैं भगवान के लिये पागल हूँ। तुम रुपये के लिये पागल हो, मैं ईश्वर के लिये पागल हूँ। तुम भी पागल हो, मैं भी वही हूँ। मगर मुझे जान पड़ता है, मेरा पागलपन ही सबसे अच्छा है।" सच्चे भक्त का प्रेम इसी तरह की तीव्र उन्मत्तता या पागलपन है। उसके सामने और कुछ भी नहीं ठहरता। सारा जगत् उसके निकट प्रेम, केवल प्रेम से पूर्ण है। प्रेमिक की दृष्टि में ऐसा ही प्रतीत होता है। जब मनुष्य के भीतर प्रेम प्रवेश करता है, तब वह अनन्त काल के लिये सुखी, अनन्त काल के लिये मुक्त हो जाता है। भगवत्-प्रेम का यह पवित्र पागलपन ही केवल हमारे हृदय की संसार-व्याधि को अनन्त काल के लिये आरोग्य कर सकता है।

प्रेम का धर्म हमें द्वैत-भावना के साथ शुरू करना होता है। भगवान् हमारी दृष्टि में हम से भिन्न हैं, और हम भी उनसे अपने को अलग ही समझते हैं। प्रेम हम दोनों को मिलाता है। तब मनुष्य भगवान् की ओर आगे बढ़ता है और भगवान् भी धीरे-धीरे अधिकतर उसके पास जाते हैं। मनुष्य संसार के संबंध—

जैसे पिता, माता, पुत्र, सखा, प्रभु, प्रणयी आदि भावों को लेकर उनके प्रेम का आदर्श का भगवान के प्रति आरोप करते हैं। उनके निकट भगवान् इन सब प्रकार के रूपों से विराजमान हैं। और वे तभी उन्नति की चरम सीमा में उपस्थित होते हैं, जब वह अपने उपास्य देवता में संपूर्ण रूप से तन्मय हो जाते हैं। इस प्रथम अवस्था में सभी अपने को प्यार करते हैं। इस क्षुद्र अहंकार का दावा प्रेम को भी स्वार्थी बना देता है। किन्तु अन्त को पूर्ण ज्ञान ज्योति का विकास होता है और देखा गया है कि यह क्षुद्र अहंकार का भाव उस अनन्त के साथ मिलगया है मनुष्य स्वयं इस प्रेमज्योति के सामने संपूर्ण रूप से परिवर्त्तित हो जाता है। उसके पहले थोड़ा बहुत जो कुछ मैल या वासना थी, वह सब चली जाती है। वह अन्त को इस सुंदर प्राणों को पागल बना देनेवाले सत्य का अनुभव करता है, कि प्रेम, प्रेमिक और प्रेमास्पद एक ही है।